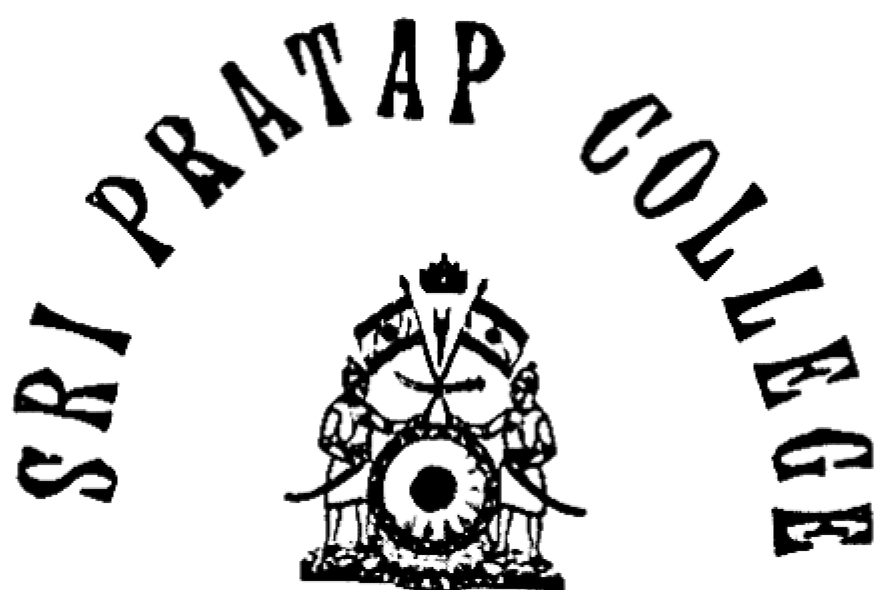

SRI PRATAP COLLEGE

रजकण

मोहनलाल महतो 'वियोगी'

र ज क ण

लेखक

पं० मोहनलाल महतो 'वियोगी'



प्रकाशक

ग्रंथमाला-कार्यालय, बाँकीपुर

मूल्य १)

विषय-सूची

मुद्रक—देवकुमार मिश्र, हिन्दुस्तानी प्रेस, बाँकीपुर

र ज क ण

पागल

—१—

वह पागल था। उसे अपने-पराये का ज्ञान न था; क्योंकि वह पागल था। वह कभी हँसता और कभी रोता था। उसकी हँसी भी अकारण थी—खँडहर पर मुस्कानेवाली चाँदनी की तरह, और उसका रोदन भी व्यर्थ था—ऊसर पर बरसनेवाले जल की तरह। जो हो, पर वह था सुखी, प्रसन्न, चिन्ताहीन, आत्म-विभोर! उसने मानो सरबस बेचकर यह अवस्था खरीदी थी—बहुत बड़ी कीमत देकर यह दुर्लभ सुख प्राप्त किया था। पर वह था पागल!

वह कभी नाचता, कभी गाता, कभी बच्चों की तरह किलकारियाँ भरता और कभी मुक्त पवन की तरह जिधर चाहता चला जाता। उसका संसार सुख-दुख से परे, हानिलाभ से दूर, मानापमान से मुक्त था। उसके लिये न तो अतीत का स्वप्न था और न भविष्य की कल्पना। जो कुछ था, वर्तमान—वह भी क्षणभर का वर्तमान!

—२—

गाँवों में इस अज्ञातकुलशील पागल की चर्चा छिड़ गयी। किसी ने कहा—'दुख का मारा है,' तो किसी ने 'भूत-प्रेत का कोप' बतलाया। विचार हुआ, इसकी चिकित्सा करायी जाय। कुछ उत्साही नवयुवकों ने उसे धोखा देकर एक खाली घर में

बन्द कर दिया। वैद्यराज आये अपनी झोली के साथ। बड़ी धूम-धाम से चिकित्सा आरम्भ हुई। 'महानारायण तैल', 'ब्राह्मी' आदि का प्रयोग शुरू किया गया। दिन पर दिन व्यतीत होने लगे और मास पर मास। समझदारों ने कहा—'दवा काम कर रही है।' दुर्दैव ने कहा—'यह चिकित्सा उसके लिये अभिशापवत् है।'

पागल की अशान्ति परिणत होने लगी शान्ति के असह्य रूप में। अब उसका गाना बन्द हो गया। अर्थहीन खिलखिलाहट रुक गयी, पक्षियों-जैसी स्वच्छन्दता समाप्त हो गयी। वह अपने दोनों घुटनों पर सिर रखकर बैठा रहता और कभी-कभी ठंढी साँस छोड़कर कराह उठता। स्मृति की—अस्पष्ट स्मृति की—चिनगारियाँ उसे घेरकर उड़ने लगी जुगनू की तरह, चिता के अग्नि-कणों की तरह। हँसी और रुदन के परे की अवस्था असहनीय होती है। यह जीवन और मृत्यु के बीच की भयानक स्थिति है।

—३—

एक दिन—शारदीय प्रभात के प्रथम दिन—वह चौंक उठा। उसने अपने आपसे प्रश्न किया—'मेरा...मेरा घर ?' निर्जन घर में कौन उत्तर देता ? विस्मृति के अन्धकार ने फिर उसे घेर लिया। वह शान्ति की गोद में सो गया।

वैद्यजी का यश गली-गली फैल गया। लोगों ने समझा, दवा कारगर हो रही है, चिकित्सक सफल हो रहे हैं।

दूसरे दिन फिर पागल की चेतना लौटी। उसने चिल्लाकर कहा—'मेरी स्त्री ?—मैं कहाँ हूँ वह...वह...मर गयी।'

वैद्यराज ने कहा—'बस, दो मास, केवल दो मास में यह स्वस्थ हो जायगा।'

तीसरे दिन पागल गरज उठा—'मेरा घर ? मेरी पत्नी ? मेरे बच्चे ? हाय री दरिद्रता ! सभी समाप्त !!'

उत्तर न पाकर उसने दीवार से सिर टकरा लिया। गरमा-गरम रक्त की धारा बह चली। दिन भी ढ़ल चुका था। शारदीय संध्या खेतों पर मचल रही थी। वैद्यजी बुलाये गये। नाड़ी-परीक्षा के बाद निश्चित हुआ कि...!!!

उस अभागे पागल के पास आया था पागलपन वरदान के रूप में, चेतना आयी अभिशाप बनकर ! विधि का विधान...।

गुड़िया

—१—

रंग-बिरंगे कपड़ों की टुकड़ियाँ इकट्ठी करके गुड़िया बनाना ही उसका काम था। भगवान मरीचिमाली की प्रथम किरणें जिस समय शिशिर-बिन्दुओं पर पड़ती थीं, उस समय से लेकर, दिवसावसान पर्यन्त वह केवल गुड़िया बनाया करता था। प्रत्येक गुड़िया में अनेक रंग-बिरंगे कपड़ों का संयोग रहता था। कोई खण्ड अग्नि-शिखा-सा लाल, तो कोई नीलाम्बर की तरह श्याम। एकान्त में बैठकर वह गुड़िया बनाता और गोधूलि के समय बेच डालता। बस, यही उसका दैनिक कर्म था।

—२—

एक बालिका उसके निकट नित्यप्रति अपने क्षुद्र आँचल में धान की खीलें भरकर आती और गुड़ियों से विनिमय कर चली जाती—बहुत दिनों से यह क्रम था।

वह बालिका के मुख-मण्डल पर उदास दृष्टि डालता और उसके फटे हुए आँचल को गुड़ियों से भर देता।

धीरे-धीरे बालिका के घर में गुड़ियों का पहाड़ बन गया और उसके छोटे-से घर में खीलों का स्तूप।

—३—

कुछ दिनों के बाद उस बालिका का गुड़िया लेने आना एकदम बन्द हो गया। वह भी गुड़िया बनाकर घर में ही रख छोड़ता। धीरे-धीरे टोकरी से भरकर खाँचे और खाँचे से भरकर घर भर में गुड़िया फैल गयीं।

अब उस बेचारे के लिये उठने-बैठने तक की जगह भी शेष न रही। सारा घर गुड़ियों के अधिकार में चला गया। गुड़ियों के स्थावर अधिकार के सामने उसके स्थावर अधिकार का अस्तित्व लोप हो गया। यही सृष्टि का क्रम भी है।

घर के भीतर अतिथियों की भीड़ लग जाती है और गृह-स्वामी बाहर—पीपल के पेड़ के नीचे—बैठा कातर दृष्टि से घर की ओर देखता तथा गम्भीर भाव से हुक्का पीता रहता है। इसे दार्शनिक संतोष कहते हैं।

कुछ वर्षों के बाद एक रानी उसके यहाँ एक बालिका के साथ गुड़िया खरीदने आयी।

रानी के साथ रथ और पदाति-सेना का एक बड़ा समूह भी आया।

रानी ने कहा—'मुझे गुड़िया चाहिये।'

वह अविचलित भाव से बोला—'गुड़िया तो है, पर बिक्री की नहीं।'

रानी बोली—'क्यों?'

उसने कहा—'उतना मूल्य देनेवाला कोई नहीं मिलता।'

रानी ने सिर झुकाकर कहा—'मैं मूल्य दूँगी।'

देखते-देखते गुड़ियों से कई गाड़ियाँ भर गयीं। कशाघात खाकर घोड़े गाड़ियाँ खींचने लगे।

उसने कहा—'अब मूल्य मिलना चाहिये।'

रानी बोली—'लो।'

उसने कुरते का फटा हुआ दामन फैला दिया और रानी ने आँचल खोलकर उसे जगमगाते हुये हीरों से भर दिया।

उसने हीरों पर उदास दृष्टि डालकर कहा—'ये मेरे किस काम के? रानी! मुझे तो खीलें चाहिये।'

रानी बोली—पहले मेरी दृष्टि में खीलों का उतना ही मूल्य था, जितना आज इन पत्थर के टुकड़ों का। मैंने तो अपने जानते तुम्हें खीलें ही दी हैं, तुम चाहे जो समझो।

फूल-कुमार

—१—

प्रकृति की एकान्त गोद में एक नन्हा-सा फूल खिला। न उसमें गन्ध थी और न था चटकदार रंग; थी केवल मनोवेधक सादगी।

प्रातःकालीन अल्हड़ पवन ने आकर धीरे-से उसे चूम लिया। वह सिहर उठा।

उसे वसन्त ने अपनी सारी मादकता और निखरी हुई चन्द्रिका ने निष्कलंकता दे रखी थी।

बच्चों के खेलते हुए एक दल ने उस फूल को देखा। छत्ते पर की मधुमक्खियों की-सी दबी हुई भनभनाहट से वह निर्जन प्रान्त गूँज उठा।

किसी ने उसे छुआ नहीं। वह आकाशकुसुम-सा अछूता और अनाघ्रात था।

—२—

नगर के प्रत्येक भाग में यह समाचार प्रकाश की तरह फैल गया। झुण्ड के झुण्ड लोग देखने आये।

चलचित्रों की तरह भीड़ चुपचाप आती और देखकर स्वप्न की तरह चली जाती।

धीरे-धीरे यह खबर वहाँ पहुँची, जहाँ रानियाँ हंसों को मोती चुगा रही थीं। रानियों ने कहा—'हम भी देखने जायँगी।' वृद्ध मन्त्री ने राजा से कहा—'पहले मुझे देख आने की आज्ञा मिले।'

राजा असमंजस में पड़ गया। सारी सभा भी देखने के लिये उत्सुक थी। राजाज्ञा हुई—'हम भी चलेंगे।'

हाथी, घोड़े, ऊँट, रथ आदि का ताँता बँध गया। कोलाहल करते झुण्ड के झुण्ड बच्चे भी साथ चले।

राज-सवारी उस एकान्त-शान्त झाड़ी के क्षुद्र द्वार पर आकर रुकी।

धूलि से आकाश मलिन हो गया। वनदेवी वन छोड़कर भाग खड़ी हुई। विचक्षण वैज्ञानिकों की एक टोली भी साथ आयी थी। राजा ने ध्यानपूर्वक उस फूल को देखकर भेदभरी दृष्टि से वैज्ञानिकों की ओर देखा। वे राजा की इच्छा जान गये।

देखते-देखते भाँति-भाँति के अद्भुत यंत्रों का पहाड़ बन गया। असंख्य टेढ़े-मेढ़े कील-काँटे भूमि की छाती पर ठोक दिये गये।

यंत्रों के शब्द से शांत वनस्थली पीपल के पत्ते की तरह काँप उठी।

रात-दिन फूल की परीक्षा का कार्य महान् विशेषज्ञों के तत्वावधान में बड़े परिश्रम और तन्मयतापूर्वक चलने लगा।

अणु-परमाणु के भीतरी दृश्यों के भीतरवाले गुप्त तत्त्वों के प्रत्येक अंश को अलग-अलग करके, पहाड़ की तरह दिखलानेवाले सूक्ष्मदर्शक यंत्रों की संख्या अनगिनत थी।

—३—

कई सप्ताह के तुमुल तर्क-वितर्क के बाद देश भर के धुरन्धर कवियों तथा विद्वानों की सभा ने उस फूल का नाम रक्खा—'फूल-कुमार'।

'फूल-कुमार' की रक्षा के लिये सैनिकों की टोलियाँ तैनात की गयीं। कोसों लम्बी छावनी पड़ गयी। सारा वन काटकर हाथी-घोड़ों के पेट में तथा चूल्हे के गम्भीर गह्वर में झोंक डाला गया। साथ ही गाँव के गाँव लूटे जाकर सैनिकों के उदर में स्वाहा कर दिये गये।

फूल की परीक्षा सन्तोषजनक ढंग से चल रही थी। इसकी खबर प्रतिदिन राजा को विश्वस्त ढंग से दी जाती थी। इस कार्य के लिये बड़े-बड़े विज्ञों की मण्डली नियुक्त थी। यह मण्डली इस कला में निष्णात थी। इस दफ्तर में सैकड़ों किरानी काम करते थे।

—४—

छः मास के बाद राजा ने मन्त्री से पूछा—'वैज्ञानिकों ने इतने दिनों तक क्या किया?'

मन्त्री तलाश करने चले। राजा सन्तुष्ट हो गये। धीरे-धीरे वर्ष समाप्त हो गया।

एक दिन मनुष्यों के एक बड़े दल ने सर पर बड़े-बड़े थाल लिये सभा-भवन में प्रवेश किया। साथ में विज्ञानाचार्य भी गंभीर मुद्रा लिये पधारे।

राजा ने पूछा—यह क्या है?

आचार्य बोले—'फूल-कुमार' की परीक्षा सानन्द सफलता-पूर्वक, आपकी दया से आज...।

राजा अधीर होकर बोल उठा—इन थालों में क्या है?

क्षण भर में थालों पर के ढकने उठा दिये गये। प्रत्येक थाल छोटी-छोटी काँच की प्यालियों से भरा हुआ था।

'इन प्यालियों में'—विज्ञानाचार्य बोले—'उस फूल की पंखड़ी-पराग, उसके वृक्ष की छाल, जड़, पत्ते, उस स्थान की मिट्टी, आसपास के वृक्षों के फल, फूल, छाल-पत्ते आदि हैं।'

राजा बोला—'परीक्षा का यह ढंग तो बड़ा ही वीभत्स है। इतनी अदनी-सी चीज की परीक्षा में इतना आडम्बर!'

विज्ञानाचार्य ने सर खुजलाते हुए कहा—'प्रभो! हम तुच्छ को महान के साथ मिलाकर देखते हैं।'

यह संसार

—१—

माया ने पूछा—'यह संसार कैसा है मेरे लाल?'

विभावरी अपने गगनांगन के दीप एक-एक करके बुझाती जा रही थी। पूर्व का सुनहला द्वार खुला—उषारानी की लाल चूनरी की छाया पड़ी—शान्त सरिता के स्वच्छ हृदय पर।

प्रकृति की सुरभित साँसों ने मलयानिल बनकर फूलों में महक भर दी। अँगड़ाई लेकर गुलाब की कलियाँ आँखें खोल अपने रूप को देखने लगीं—झुककर ओस-कण के दर्पण में।

उदास पीत सुधाकर ने क्षितिज पर ठहरकर एकबार संसार को देखा—कितना मनोरम! माँ ने अपने निद्रामग्न बच्चे को ललककर उठाया—उसका भोलाभाला मुख चूमते हुए। वह अपनी नन्हीं नन्हीं नीली आँखों से माँ का मुँह देखकर मुस्कराया और दूध पीने के लिये मचल पड़ा।

इसी समय माया ने पूछा—'यह संसार कैसा है मेरे लाल?' बच्चे

ने दूध पीते-पीते माँ के आँचल के भीतर से ही उत्तर दिया—

'मीठा।'

—२—

चैत की दोपहरी आयी—नवयुवकों और अल्हड़ नवयुवतियों की आँखों में आलस्य की मदिरा छलकाती। इधर गरमी और ठंढक हवा में भर गयी। नीम के फूलों की मस्तानी महक से दिशाएँ मलिन हो गयीं और पगडंडियाँ भर गयीं सूखे त्यक्त पत्तों से। स्वर में मिलन की उत्कंठा भरकर सुनसान नदी-कछारों में से पगली कोयल कूक उठी—कूहू। फूलों ने अपने को लुटा दिया, सौरभ ने अपने आपको मिटा दिया। संसार के अणु-अणु से मादक-मदिरा की धारा फूट पड़ी।

निर्जन वन की छाया में तरुणी-तरुण घूम रहे थे—एक दूसरे पर न्यौछावर होकर। प्रत्येक वृक्ष अपनी स्निग्ध छाया बिछाकर इन्हें पुकारता, प्रत्येक फूल अपने आपको अर्पण करने के लिये बुलाता, लताएँ झुककर बलैया लेतीं। ये आत्मविस्मृति से घूम रहे थे—प्रकृति के शांत, मनोरम, एकांत आंगन में। तरुण व्याकुल आँखों से तरुणी को देखता और तरुणी मदमाती और लजाती आँखों से जब कभी तरुण को देखती। दोनों अपनी सत्ता विलीन करने के लिये आकुल हो रहे थे—प्रेम के रंगीन तुनुक स्वप्न में।

मोह ने पूछा—'यह संसार कैसा है, मेरे पगले?' दोनों ने एक दूसरे को आँखों से ही बार-बार चूमते हुए विह्वल स्वर में उत्तर दिया।

प्रेममय, मिलनमय!

—३—

भादो की काली रात आयी—काले बादलों की डरावनी चादर ओढ़कर। उसके एक हाथ में बिजली की मशाल थी और दूसरे

में जल से छलकता हुआ पात्र। निशानाथ छिप गये तम के पर्दे में। सहमा हुआ सा—संसार चुपचचाप—साँस रोके पड़ा था। पिशाच की तरह पुरवा के झकोरों से वृक्ष हिलते थे। चिता से अनवरत उड़नेवाले अग्नि-कण की तरह जुगनू अन्धकार के पर्दे पर उड़ रहे थे। आकाश के दीपक बुझ चुके थे—हवा के झोंकों से। नदी वज्रनिनाद करती हुई कगारों पर चीत्कार करके सिर पटक रही थी—जल की तरंगें घटाओं से टकराने के लिये भीम वेग से उछल रही थीं ; मानों मृत्यु का महानृत्य हो।

काले-काले पहाड़ अन्धकार में यमराज के काले भैंसे की तरह दिखलायी पड़ रहे थे—ऐसी थी भादों की भयावनी रात ! कालेश्वरी के सिंह की तरह घटाएँ गरज रही थीं !

नगर से दूर एक कुटिया में तीन प्राणी थे—व्यग्र-हृदय दुर्बल पुरुष, हताश लुटी-सी स्त्री, मरणोन्मुख फूल-जैसा प्यारा बच्चा ! पुरवा के थपेड़ों से छोटी-सी कुटिया काँप रही थी—शंकाग्रस्त हृदय की तरह। ऊपर अन्धकार, नीचे अन्धकार, बाहर अन्धकार और भीतर अन्धकार—सर्वत्र अन्धकार ! अन्धकारमय संसार !! बच्चे ने धीरे-से कराहा ! माँ का हृदय टूक-टूक हो गया। उसने हृदय-जैसे टूक-टूक आँचल से—चीथड़े आँचल से—हृदयधन को छिपा लिया, अपने दुग्धहीन सूखे हुए स्तन को उँगली से ठेलकर बच्चे के मुँह में देने का प्रयत्न किया। हाय, उसके जबड़े बैठ चुके थे—माँ ने घबराकर रो दिया। उसका रोना प्रकृति के अट्टहास में मिल गया। बिजली कौंधी—जल की एक बौछार मेघों की गड़गड़ाहट के साथ आयी। पीठ फेरकर माता ने इस शीतल बौछार से अपने बुझते हुए प्राण-प्रदीप की रक्षा की। ठंढी हवा ने घर के हृदय को कँपा दिया—पीपल के पत्ते की तरह !

मानवता ने पूछा—'यह संसार कैसा है, मेरे गृहस्थ ?'

अभागे माता-पिता ने बच्चे की छाती और नाक के पास शंकाग्रस्त विकल भाव से हाथ रखते हुए कहा—'आह, नरकवत् ! घोर ज्वालामय।'

एकाकार

—१—

वह था कवि। उसने वीणा बजाना सीखा था। और—और यह था किसान। किसान हल चलाना जानता था। कवि नरक को स्वर्ग बनाना चाहता था और किसान मर्त्य को अमर ! कवि की हँसी से लाल झड़ते थे और किसान के रोदन से मोती ! दोनों एक ही वृक्ष के, एक ही डाल के, एक ही टहनी के दो सुमन थे। दोनों एक ही पलने पर झूले थे, एक ही माता के दुलार में पले थे। एक कवि था, दूसरा किसान। एक कल्पनालोक का जीव था, दूसरा मर्त्यलोक का।

हाँ, वह कवि था। उसने वीणा बजाना सीखा था और यह था किसान। कवि के हाथों में फूलों-सी लुनाई थी और किसान की हथेलियाँ थीं दुर्भाग्य-सी कठोर, नीरस, ऊबड़-खाबड़, असुन्दर। दोनों दोनों को देखकर मुस्करा पड़ते थे, दोनों दोनों को देखकर रो देते थे।

—२—

पूरब के क्षितिज से घटा उठी काली-काली ! शीतल हवा का एक झोंका आया। कवि का मन नाच उठा मोर की तरह और किसान का मन काँप उठा पीपल के पत्ते की तरह।

एक दिन, दो दिन, तीन दिन, इस प्रकार कई सप्ताह तक

मूसलाधार वर्षा होती रही। समस्त संसार मिट्टी के घरौंदे की तरह घुलने लगा। कवि की वीणा जल-प्लावन में बह गयी और किसान के बैलों का जोड़ा। कवि रो उठा—'हाय रे मेरे गीत!' किसान छाती पर हाथ धरकर बोला—'हाय रे मेरे बच्चे!' दोनों लुट गये, पर दो प्रकार से। गुरुगंभीर गड़गड़ाहट के साथ छप्पन कोटि मेघ मूसलाधार जल बरसा रहे थे। कवि बिलख रहा था स्वर्ग के लिए, किसान रो रहा था मर्त्य के लिए।

—३—

वर्षा के बाद आया अकाल। जल की कमी नहीं रही; पर अन्न का दर्शन दुर्लभ हो गया। क्षुधार्त्तों के आँसुओं से संसार पानी-पानी हो गया; पर पत्थर के ठोस परमेश्वर न पसीजे, न पसीजे!

भूखे कवि को छोड़कर कल्पना भाग गयी और अन्नहीन किसान से शक्ति विमुख हो गयी। कवि ने अपनी लेखनी बेचकर अन्न खरीदा और किसान ने अपनी कन्या की नथ बेचकर लगान चुकाया। अकाल बढ़ा और अकाल के साथ बढ़ी दरिद्रता। कवि ने सोचा—'जीवन, सुख-दुःख अनित्य है' और किसान ने सोचा—'बच्चों के लिये तो कुछ करना ही पड़ेगा।' दोनों निकल पड़े पेट की चिन्ता में। कवि खँजरी पर नये-नये गीत बनाकर गाता और किसान अपने धँसे हुए पेट दिखलाकर भीख माँगता। कवि वाहवाही लूटकर किसी पेड़ के नीचे जाकर सो रहता और किसान कुछ पैसे और अन्न प्राप्त करके रात को घर लौट जाता। यही क्रम एक मुद्दत तक चलता रहा। समय ने करवट नहीं बदली, युग ने पलटा नहीं खाया। मास पर मास, वर्ष पर वर्ष बीत गये। ऋतुओं का चक्र घूमता रहा, पर इनका भाग्य-चक्र स्थिर बना रहा—विधि के विधान की तरह।

—४—

एक दिन किसी राजा के महल के नीचे कवि गा रहा था। वसन्त के दिन थे। मलयानिल के झकोरों में अनिर्वचनीय पुलक थी। कवि गा रहा था कोई दर्दभरा गीत और खिड़की पर से सुन रही थी राजकुमारी। वहीं भिखारी किसान भी आया। कवि का गीत समाप्त हो गया, चारों ओर सन्नाटा-सा छा गया। क्षणभर के लिए हवा ठहर गयी, मुखरा कोकिला चुप हो गयी। खिड़की पर चूड़ियों की झनकार सुन पड़ी। कवि ने ऊपर सिर उठाकर देखा। किसान ने भी अपनी कोटरगत आँखों को ऊपर उठाया।

खिड़की पर संसार भर की समस्त सुषमा रमणी-रूप धारण करके खड़ी थी। कवि की आँखें ऊपर ही टँग गयीं और किसान के मन की आँखें अपने भूखे बच्चों पर लगी हुई थीं। अभ्यासा-नुसार इसने अपना फटा-सा दामन फैला दिया। कवि आँखों में भीख माँग रहा था और किसान अपनी करुणा के ठीकरे में। दोनों परमुखापेक्षी थे।

फिर चूड़ियों की खनखनाहट सुनायी पड़ी। कवि की गोद में कुम्हलाये हुए जूही के फूलों की माला गिरी और किसान के फैलाये हुए दामन में हीरों से जगमगाता हुआ स्वर्ण-कंकण। दोनों निहाल हो गये इस दान से।

कवि ने ऊपर आँखें उठायीं और किसान ने भी। कवि ईश्वर की महान् विभूति के दर्शन करके अघा गया और किसान ईश्वर की ईश्वरता के।

× × ×

वासन्ती पवन के झकोरों से मेंहदी के फूलों की सुवास व्याकुल हो रही थी और कोयल की कूक से कवि का मन!

राजपथ की धूलि उड़ाती हुई चैत की हवा इधर से आयी और उधर चली गयी। फूल हवा में अपनी मादक महक भरकर झर पड़े, कोयल थककर चुप हो गयी।

सूनी गोद

—१—

उसके बाल था, न बच्चा। उसकी गोद सूनी थी; उसका हृदय अतृप्त था। उसके कान किसी के नन्हें मुँह से 'माँ' सम्बोधन सुनने के लिये व्याकुल थे। उसका कल्पनालोक उदास था।

उसके बाल था, न बच्चा। उसका हृदय तृषित था। उसकी आँखें किसी के खोज में थीं।

उसके पति ने उसे कचकड़े का एक बड़ा सा बच्चा लाकर उस समय दिया था, जब उसके जीवन के किसी होली के दिन वयाकाश से अल्हड़ जवानीरूपी प्रभात ने बिना कहे-सुने लाल रंग भरकर ऐसी पिचकारी मार दी थी कि सारा रंग उसके गालों पर बिखर गया था; उसका सपना सराबोर हो गया था।

वह 'बेबी' उसके हृदय और आँखों का खिलौना था। वह उसे रंग-बिरंगे कपड़ों से सजाती और पति से हठ करके सोने के गहने आदि मँगवा लेती।

इस प्रकार 'बेबी' को सजाकर वह अतृप्त आँखों से देखा करती। यही उसके जीवन की और प्राणों की साध थी। मिथ्या में सत्य की झलक थी। अपने आपको छलना था।

—२—

उसके बाल था, न बच्चा। इसीलिये, वह कचकड़े के प्राणहीन पुतले को हृदय से लगाये रहती थी। वह उसकी कल्पना के

आँगन में खेलता और स्वप्न में 'माँ-माँ' कहकर गले से लिपट जाता। क्या यह सुख कुछ कम था?

जाड़े की लम्बी रातों में वह उसे छाती से चिपकाकर सोती। वह इसका ध्यान रखती कि कहीं असावधानी से बच्चा गरम रजाई के बाहर न हो जाय। वह उसका प्यारा बच्चा था।

पगली की ऐसी दशा देखकर पति कभी-कभी रो उठता। वह रोना अन्तर्यामी देवता की आँखों को रुला देता।

एक दिन पति ने कहा—पगली की तरह इस खिलौने के पीछे क्यों पड़ी हो? लोग क्या कहते होंगे? उसने नीरव हरिणी की तरह कातर आँखों में जल भरकर पति के मुख की ओर देखा और बच्चे को उठाकर इस भाँति आँचल से छिपा लिया, मानो वह बहुत देर से 'माँ-माँ' कहकर रो रहा हो।

पति की आँखों में सावन-भादो की घटा उमड़कर बरस पड़ी। वह पीठ फेरकर खड़ा हो गया। आँखों को मूँदकर सूर्य, चन्द्र और असंख्य तारों से भरे हुए सीमाहीन गगन को छिपा लेना कितना सुन्दर उपाय है!

यही उस छोटे-से परिवार का वेदनामिश्रित सुख था। यही अश्रुमिश्रित हँसी थी और 'आह' मिश्रित 'वाह'!

—३—

जेठ का महीना था। गाँव में भगवान् हुताशन का आगमन प्राय: नित्य होता था। आज रमेसर पांडे का घर जला, तो कल बुद्धन अहीर का झोपड़ा स्वाहा हुआ।

एक रात, उस समय—जब कि वह अपने बच्चे को बैठी पंखा झल रही थी—अचानक गाँव में हल्ला मचा 'आग लगी! आग लगी!!' साथ ही, आकाश में प्रकाश दीख पड़ा।

इस बार अग्निदेव ने उसके पड़ोसी के घर पर ही दया

की थी। देखते-देखते, आग की लपटों ने उग्र रूप धारण किया। अम्बर-रूपी चँदोवा को जला डालने के विचार से उठती हुई चंचल लपटें, ऐसी जान पड़ती थीं, मानों सुधाकर की सुधा को चाटकर अनादि काल के पुराने बैर का बदला लेने के लिये, शेषनाग ने फुफकार करके एक साथ ही बीस हजार जिह्वा को लपलपाना प्रारम्भ कर दिया हो। यह तो हुआ रूपक, पर उसके घर पर भी कुछ अंगारे हवा में उड़ते हुए आ गिरे।

फूस का छप्पर—बारूद के ढेर की तरह जल उठा। पति ने हल्ला मचाया। आग बुझानेवालों की भीड़ लग गयी। चीजें उठा-उठाकर—प्लेग के मरे चूहों की तरह बाहर फेंकी जाने लगीं। छोटा-सा घर आतिशबाजी बन गया।

वह भागकर बाहर जा खड़ी हुई। सर्वभुक्देव तांडव नृत्य करने लगे। किसी का साहस आगे बढ़कर उन्हें छेड़ने का न हुआ।

वह एकाएक चौंक उठी और हाय रे मेरा बच्चा! कहती हुई अग्नि-कुंड में कूद पड़ी।

बात ऐसी थी कि भागते समय उसने अपने कचकड़े के बच्चे को खाट पर ही छोड़ दिया था।

जीवन का मोह छोड़कर पति भी आग की बढ़ती हुई ज्वाला में कूद पड़ा और दूसरे क्षण अपनी अधजली पगली को उठाये, झुलसता हुआ बाहर निकला।

उस पगली की गोद में कचकड़े का बच्चा था। उसकी गोद सूनी न थी, उसका हृदय जनहीन न था!

× × ×

डाक्टर ने कहा—आपकी स्त्री की रक्षा परमात्मा करें। केस होपलेस है।

वह भर्राई हुई आवाज में पति से बोली—'परमात्मा के लिए मेरे बाद, इस बच्चे को न भूलना।'

इस समय भी अपने झुलसे हुए दोनों हाथों से उसने उस बेबी को छाती से चिपका रक्खा था; क्योंकि उसकी गोद सूनी थी।

—

कर्तव्य

—१—

कर्महीन उदास दोपहरी को, जब आधे दिन का कार्य समाप्त कर मनुष्य अपने द्वार पर बड़े आनन्द से बैठता है, उसी समय कपिशा के राजा को पता लगा कि सारे राज्य में विप्लव का रक्तरंजित उत्सव प्रारम्भ हो गया। राज-पक्ष के लोगों के निर्दोष रक्त से धरणी के आँचल पर धब्बे लगाये जा रहे हैं तथा घरौंदे की तरह बड़े-बड़े दुर्ग मिट्टी में मिलाये जा रहे हैं। इस नृशंस ताण्डव की जननी है—राजभक्त-सेना।

राजा गहरी साँस लेकर अन्तःपुर की ओर धीरे-धीरे चला गया। वह अकेला था। देखते-देखते सारा राज्य प्रजा के शासन-चक्र के नीचे आ गया। इस विद्रोह का मुखिया था एक भील, जो हिमालय की तराई में रहता था।

—२—

नगाधिराज की निर्जन गोद में एक परम सुन्दरी नवयौवना संन्यासिनी घूम-घूमकर प्रकृति की शोभा देख रही थी। पृथ्वी पर जमी हुई बर्फ की मोटी तह पर उसकी परिछाईं इस प्रकार दिखलाई पड़ती थी, मानों उसके चरणों के नीचे स्वयं शोभा आकर लोट गयी हो। कितनी मादकता थी! कितना अल्हड़-पन था!!

अचानक सारी उपत्यका, वीणा की झंकार से गूंज उठी। स्वर्ग में मानों भगवती वीणापाणि वीणा बजा रही हों, पर्वतराज की ऊँची चूड़ाओं पर से गिरनेवाली नदियों की कल-कल में मिलकर उस झंकार ने अभिनव स्वर्ग की सृष्टि कर दी। चकित मृगी की तरह तपस्विनी इधर-उधर देखने लगी। उसके हृदय की ओट में बैठकर स्मृति ने जो राग अलापा, वह वीणा-झंकार से मिलता था।

× × ×

थोड़ी दूर—मानसरोवर के प्रशान्त तट पर बैठकर एक घोर कृष्णवर्ण नवयुवक भील तन्मयतापूर्वक वीणा बजा रहा था। उसकी कुंचित अलकें कन्धों पर लहरा रही थीं। रूप छलक रहा था।

तपस्विनी मंत्र-मुग्ध की तरह उस ओर देखने लगी। संध्या के आँचल में भयभीत शिशु की तरह मुँह छिपाकर अंशुमाली क्षितिज की ओर चले गये। अन्धकार का जाल फैलाकर निशा-किरातिनी शिकार की प्रतीक्षा में चुपचाप बैठ गयी।

अन्धकार में भी तपस्विनी की आँखों के सामने उस भील-कुमार की मूर्ति चमकती रही।

प्रणय-प्रकाश पर अन्धकार का प्रभाव नहीं पड़ता।

दो अपरिचित हृदयों ने एक-दूसरे को दुलारा। दुलार-प्यार के प्रसंग में परिचय की आवश्यकता नहीं।

—३—

तपस्विनी के पिता की—जो उसी वन में कुटी बनाकर उदास जीवन व्यतीत कर रहे थे—अनुभवी आँखों ने सब कुछ देख लिया। प्रणयी-युगल का हृदय एक रंग में सराबोर हो गया। यह रंग प्राणों की लालसा की धधकती भट्ठी पर चढ़ाकर यत्नपूर्वक उतारा गया था।

[illegible]

—४—

[illegible]

निकल आया।

[illegible]

उस वर्मधारी विद्रोही दल के सेनापति के निकट सर झुकाये खड़ा है और सारी सेना 'नेता-पुत्र' कहकर उसका अभिवादन कर रही है !

× × ×

क्षण भर में तपस्वी और उसकी कन्या के गरम रक्त से धरित्री रँग डाली गयी। नवयुवक भील की आँखों के कोने पर दो बूँद आँसू चमककर प्रभातकाल के तारे की तरह छिप गये। फिर, हिमालय की निर्जन तराई जनहीन हो गयी। भील युवक मानसरोवर पर बैठकर सदा की तरह वीणा बजाने लगा। वीणा की झंकार मानसरोवर की शांत छटा पर कम्पन उत्पन्न करके रोती हुई शून्य में मिल जाती थी। दिन और रात का जोड़ा वर-वधू की तरह ब्रह्माण्डरूपी मंगलकलश के चारों ओर भाँवरे भरने लगा। चन्द्रदेव ताराओं की आरती सजाकर नित्य आते और चुपचाप वसुधा को प्रणाम कर चले जाते।

रक्त की धारा तो दो घंटे में सूख गयी ; पर स्मृति की धारा पतितपावनी सुरधुनि की धारा से मिलकर अमर हो गयी।

अन्त में—

—१—

इन्द्रासन हिल उठा पत्थर के दोनों ढोकों की घोर तपस्या से। मेनकादि सुर-सुन्दरियों ने रोकर इन्द्र से कहा—'प्रियतम, क्या अब हमें पत्थर के उन बेढंगे ढोकों के सम्मुख नाचना-गाना पड़ेगा ?'

चिन्ताकुल इंद्र मौन रहे।

पत्थर के दो ढोकों ने घोर तपस्या की। एक दिन पितामह का कमलासन काँप उठा। उसपर की रखी हुई चीजें अस्त-व्यस्त

हो गयीं। पितामह प्रगट हुए वहाँ, जहाँ पत्थर के दोनों टुकड़े तपोमग्न बैठे थे। आकाश देवताओं के विमानों से भर गया। सारा संसार क्या, चौदहो भुवन स्तब्ध होकर यह दृश्य देखने लगा।

समाधि टूटी। दोनों तपोधन लुढ़क पड़े विधाता के चरणों पर। भय से देव-नारियों का कोमल हृदय काँप उठा, ओसकण की तरह। कहाँ पत्थर के ढोके और कहाँ वृद्ध पितामह के कोमल कमल-जैसे चरण !

विधाता बोले—'वरं ब्रूहि !'

पुलकित होकर एक ढोके ने कहा—'दादा, मैं महा मूल्यवान 'लाल' बनना चाहता हूँ।' दूसरे ने कहा—'स्रष्टा, मैं हुतात्माओं के चरणों की धूलि बनना चाहता हूँ।'

'एवमस्तु' कहकर बाबा चलते बने हंस पर चढ़कर। इधर एक ढोका तो महाविभामय मणि बनकर चमचमाने लगा और दूसरा मुट्ठी भर धूलि बनकर हवा में उड़ गया।

—२—

लकड़हारे ने लाल को सबसे पहले बेचा चमरू तेली के हाथ, आध पाव तम्बाकू लेकर।

चमरू ने फिर लाल को बेचा ताड़ीशाला के स्वामी के हाथ, एक घड़ा शुद्ध स्वदेशी ताड़ी लेकर।

ठेकेदार ईदन मियाँ से लाल गया एक सोनार के यहाँ आठ आने में, और स्वर्णकार ने उसे खपाया एक जौहरी के यहाँ १००० स्वर्ण-मुद्रा लेकर। इसके बाद जौहरी ने उस लाल को बेच दिया राजा के यहाँ १०००० ऊँट भरकर सोने के चमकदार सिक्के लेकर।

इतने दिनों के बाद लाल मनोनुकूल स्थान पर आया। अब वह मुकुट के श्रेष्ठ स्थान पर चमकने लगा। देश-देश के राजा

आये लाल देखने के लिये। अंग, वंग, कलिंग आदि के जौहरी आये, लाल के दर्शन के लिए! किसीने कहा—'विष्णु भगवान के गले का कौस्तुभमणि है।' किसी ने कहा—'यह सूर्य का टुकड़ा है।'

राजा आनन्द-विभोर हो गया; राज-काज खटाई में पड़ गये। रात-दिन लाल की चर्चा, रात-दिन लाल का वर्णन! लाखों कविताएँ लाल पर लिखी गयीं। चित्रकारों ने लाल के चित्र बनाकर मुँहमाँगा इनाम पाया। पंडितों ने लाल की शुभकामना में जप-होम करके पंडिताइन के गले में मोतियों की माला पहना दी। लाल की रक्षा के लिये राज्य भर की सेना राजधानी में बुला ली गयी और स्वयं राजा सारी रात लाल के लिए जागा करते और सारा दिन सोते!

दिन पर दिन और वर्ष पर वर्ष व्यतीत होते देर नहीं लगी। राज्य भर में अव्यस्था फैल गयी और फैल गया महा प्रचंड अकाल!

—३—

एक पड़ोसी राजा ने कहा—'मुझे लाल दे दो; मैं इतना अन्न दूँगा कि अकाल एक दिन में मिट जायगा।'

यह संवाद राजा तक पहुँचावे कौन? प्रजाजनों का एक दल जान पर खेलकर राजा के पास पहुँचा। राजा उस समय लाल की पूजा कर रहा था। हजारों ब्राह्मण मंगल-पाठ कर रहे थे। प्रजाजनों ने निवेदन किया—'महाराज, हम भूखों मर रहे हैं; अन्न का एक-एक दाना दुर्लभ है। पड़ोसी राजा कहता है कि मुझे लाल मिल जाय, तो एक दिन में अकाल मिटवा दूँ।'

'महाराज, लाल बेचकर हमारी रक्षा कीजिये; हम आप के सच्चे लाल हैं; त्राहि!'

'यह तो सरासर लाल का अपमान हुआ'—राजा दहाड़

उठा शेर की तरह—'बेअदबों का सिर काट लिया जाय।'

वही हुआ जो होना था; तलवारें चमक उठीं और हजारों लाशें पड़पने लगीं किले के विशाल फाटक पर। समझदारों ने आँखें बन्द कर लीं और चाटुकारों ने मुस्कराकर कहा—'यह अकाल की अच्छी दवा है, एक क्षण में भूख समाप्त!

× × ×

चारों ओर से भयानक खबरें आने लगीं विप्लव की। नित्य सेना भेजी जाने लगी। राज्य भर में अराजकता फैल गयी। अनेक प्रांत स्वतंत्र हो गये। केन्द्र की शक्ति क्षीण होने लगी। मार-काट ने उग्र रूप धारण किया। सैनिकों ने भी विद्रोहियों का साथ दिया। सुरक्षित सेना ने राजधानी पर भी धावा बोल दिया। विद्रोही लड़ रहे थे अपने लिये और राजा की सेना लड़ रही थी पैसे के लिये। गुलामों का कलेजा ही कितना बड़ा होता है; अशिक्षित मालिकों के खूनी हमलों ने सुरक्षित नौकरों को धूलि में मिलाना आरम्भ किया। राजा की सेना का लत्ता-लत्ता उड़ गया और राज-प्रासाद घेर लिया गया। भुखमरे शेरों का दल दाँत पीसता हुआ लपक पड़ा। विशाल फाटक पर चोटें पड़ने लगीं। राजा अपनी छाती से लाल को चिपकाये पागलों की तरह दौड़ने लगा।

—४—

एक दिन धूलिधूसरित-गात विद्रोहियों ने फाटक तोड़कर किले में प्रवेश किया; जो सामने आया मार डाला गया। मासूमों से लेकर कोमलांगिनी रानियाँ तक कठोर तलवारों के घाट उतार दी गयीं। अन्त में पूर्णाहुति की बारी आयी। तलवार लेकर राजा सामने आया। उसके सिर पर मुकुट था और मुकुट में चमक रहा था—लाल।

विद्रोहियों का दिल पसीज उठा। राजा से फिर विनय की गयी कि 'लाल प्रजा को दे दिया जाय और अकाल से अपने लालों की रक्षा की जाय।' इस प्रार्थना का उत्तर दिया राजा ने तलवार से। दो विद्रोही सरदार लोट गये संगमर्मर के फर्श पर। राजा लाल के लिये ही जीना और लाल के लिये ही मरना चाहता था।

भुखमरों का धैर्य छूट गया। चारों ओर से राजा पर आक्रमण किया गया। किसी दिलजले की तड़पती हुई तलवार गिरी ठीक राजा की गर्दन पर! सिर कटकर भूमि पर गिरा और मुकुट के साथ लाल भी लोटने लगा, अनेक धूलिभरे चरणों पर! धूलि ने कहा—'भाई लाल, स्वागत है।' लाल ने उत्तर दिया—'वरदान के रूप में मुझे अभिशाप मिला है।'

देवी

—१—

दिन सप्ताह, सप्ताह मास, मास वर्ष और वर्ष इतिहास बनकर समाप्त हो गया। रामदीन का भाग्य अपनी जगह से न खिसका—और न खिसका। देवी-देवता, पीर, मजार और मन्नतों की परीक्षा हो गयी; पर रामदीन के घर में इस बार भी पुत्र की जगह पर एक छोटी-सी बिटिया ही आयी। आते ही अपनी नन्हीं-नन्हीं मुट्ठियों में उसने रामदीन का हृदय ले लिया।

एक-एक करके तीन लड़कियाँ रामदीन के हुईं; पर साल-छः महीने उसके आँगन को अपने खेल-कूद से स्वर्ग बनाकर वे चली गयीं। बार-बार रामदीन की अभागी स्त्री रूपी की गोद सूनी हुई—आबाद हो-होकर! यह विधि का विधान था—ऐसी जबर्दस्ती की भी कोई फर्याद है!

इस बार फिर लम्बी साँस लेकर रामदीन ने अपनी बच्ची को देखा और मन ही मन उस आशांका से काँप उठा, जिसकी संभावना उसे थी। निष्ठुर भगवान क्या रुलाने के लिये ही रूपी और रामदीन के घर को दो घड़ी के लिये प्रकाशमय, आनंदमय, स्वर्गमय बना देता है? इस निष्ठुरता का भी कोई ठिकाना है!

देखते-देखते बच्ची बड़ी होने लगी। पुत्र की कल्पना को इसी बच्ची पर स्थापित करके रामदीन ने सुख माना और रूपी ने अपनी बच्ची का नाम रख दिया—'देवी'। रामदीन 'देवी बाबू' कहकर अपनी बच्ची को दिन भर में कई-कई बार खेतों पर से आकर चूम जाता था। स्नेहमिश्रित झुँझलाहट में रूपी कहती थी—"अपने 'बेटा' को साथ रक्खो। क्या बिना इसके तुम्हें कहीं भी चैन नहीं पड़ता?" रामदीन मुस्कुराता और अपनी छोटी-छोटी आँखों से 'देवी' अपने पिता को एकटक देखती। रूपी कहती—"दैया रे, यह अभी से अपने को पहचानती है, जैसे मैं इसकी कोई न रही!" रामदीन झुककर बच्ची को फिर-फिर चूमता और मन में अखण्ड तृप्ति अनुभव करता हुआ काम पर लौट जाता। रामदीन के दिन सोने के और रात चाँदी की हो गयी—कितना सुख है!

देवी देखते-देखते घुटनों के बल चलने लगी और रामदीन ने एक बैल बेचकर सोने के दो छोटे-छोटे कड़े बनवाकर अपने 'देवीबाबू' को पहना दिये। उस गरीब काश्तकार के लिये बच्ची काबा-काशी थी। दिनभर बच्ची का ध्यान, बच्ची की चर्चा, बच्ची की मुस्कुराहट, रात-दिन की मुस्कुराहट थी—बच्ची के आँसू उसके आँसू थे।

—२—

भविष्य के पर्दे में छिपे हुए रामदीन के दुर्भाग्य ने यह दृश्य

देखा और वह मन ही मन जल उठा। उसे यह अखरा कि रामदीन का परिवार सुखी है, उसे रामदीन की हँसी चुभ गयी, रूपी का आह्लाद काँटे की तरह खटका। वह अपने परदे की ओट से धीरे-धीरे निकला। दुर्भाग्य के पैरों की आहट नहीं मिलती। वह छाया की तरह चुपके-चुपके आता। रामदीन तो बेखबर था और इधर गाँव में बड़े जोर से 'शीतला' का प्रकोप आरंभ हो गया। आँधी की तरह 'शीतला' हाहाकार करने लगी।

घर-घर से धूप की सुगन्धि आने लगी और 'त्राहि-त्राहि' की पुकार सुन पड़ने लगी। रामदीन की 'देवी' पर भी शीतला का आक्रमण हुआ। गले में मूँजी रस्सी का टुकड़ा बाँध दिनभर रूपी और रामदीन 'भगवति-भगवति' रटकर अपने पूर्व-जन्म के पुण्यों को सहायतार्थ पुकारते ; पर जब दिन खराब आते हैं, तो कोई सहारा नहीं देता—अँधेरी रात में छाया भी साथ छोड़ देती है ! देखते-देखते 'देवी' का अन्त निकट आ गया। रामदीन खड़ा-खड़ा हाथ मलता रह गया और 'देवी' ने हिचकियाँ लेकर दम तोड़ दिया। उसकी छोटी-छोटी अधमुँदी नीली आँखें अब भी रामदीन की ओर ताक रही थीं।

आधी रात को रूपी की गोद को श्मशान बनाकर 'देवी' चली गयी। रामदीन 'हाय—यह क्या हुआ' कहकर पछाड़ खाकर गिरा और पगली की तरह दोनों हाथों से 'देवी' की निर्जीव देह को कसकर पकड़ रूपी चिल्लाने लगी—"अरे, चिल्लाओ मत—बेटी सो रही है—हाय-हाय क्यों चिल्ला रहे हो ?"

सर्दी के दिन थे। रात आधी बीत चुकी थी। बाहर सायँ-सायँ हवा चल रही थी। और दूर-दूर से सियार के रोने की आवाज आती थी। सारा दृश्य दुःस्वप्न की तरह मन को थका देनेवाला था, रुला देनेवाला था।

—३—

रामदीन का मन खेती-गृहस्थी से ऊब उठा। 'रूपी' तो खाट पर गिरी, सो उसे इतना ताब भी नहीं रहा कि उठकर दो कदम चले। रामदीन अर्द्ध विक्षिप्त-सा हो गया। इसी तरह कोई एक वर्ष गुजर गया। रामदीन दिनभर जंगलों और खेतों में घूमता और अपने मन से बड़बड़ाता रहता—"कौन कहता है कि 'देवी' मर गयी? वह तो खेलने गयी है—ननिऔरे गयी है। इस बार एक बैल बेचकर पैरों का कड़ा बनवा दूँगा।"

इतना ही नहीं, उसने एक बैल बेचकर दो कड़े बनवा ही लिये और बड़े हुलास से जाकर रूपी को दिखलाया। 'रूपी'—पगली रूपी ने कड़े ले लिये और आँचल से बाँधकर फिर खाट-पर लेट गयी और सिसक-सिसककर रोने लगी। इसी समय किसी ने बाहर से आवाज दी। रामदीन चौंका। आवाज देने वाले ने दरवाजा खटखटाना आरम्भ किया। रूपी चिल्ला उठी—"मेरी देवी को लेने आये हैं—मर गयी है बिटिया। देखो, मुझसे छीनकर इसे लोग मिट्टी में गाड़ देंगे, जहाँ सियार-कुत्ते मेरी बिटिया को नोचकर खा जायँगे। मैं नहीं जाने दूँगी—मैं नहीं जाने दूँगी।"

रामदीन बौखलाया हुआ दरवाजे पर दौड़ा। दरवाजा खोलते ही उसने देखा कि अदालत के चपरासी के साथ जमीन्दार के प्यादे लंबी-लंबी लाठियाँ लिये खड़े हैं।

रामदीन अर्थशून्य दृष्टि से उनकी ओर ताकता हुआ बोला—'देवी मरी नहीं। क्या तुम उसे हमसे छीन लोगे? हम नहीं देंगे—भागो।"

इतना बोलकर उसने दरवाजा बन्द करना चाहा; पर धक्के देकर सब उस अभागे के घर में घुस गये। रामदीन ने चिल्लाना

आरम्भ किया—"नहीं, मैं देवी को नहीं दूँगा, खून कर दूँगा—समझ लो।" उसने लपककर कोने से फावड़ा उठाया। इतने में ही जमीन्दार के प्यादे ने उसे ऐसा धक्का दिया कि बेचारा आँगन में गिर पड़ा, कटे पेड़ की तरह! अभागे के शरीर में केवल साँस लेने भर की शक्ति ही थी। दुख ने—मर्मान्तक पीड़ा ने—उसके शरीर को छलनी बना दिया था। साँसों से रामदीन अपने जीवन के इने-गिने दिनों को गिन रहा था।

बाकायदा मालजब्ती शुरू हुई—तीन लोटे, दो थालियाँ एक खाट, एक बाल्टी। जिस कोठरी में रूपी पड़ी थी, वहाँ भी प्यादे घुसे। रूपी चिल्ला उठी—"मेरी देवी—मेरी देवी—मैं नहीं दूँगी। तुम इसे जीते-जी गाड़ दोगे। यह जिन्दी है—देखो, दूध पी रही है।" पगली की तरह बड़बड़ाती हुई वह खाट से उठी और गिर पड़ी—ठन-ठन आवाज के साथ दो सोने के और दो चाँदी के कड़े भी गिरे।

प्यादे और जमीन्दार के सिपाहियों के हाथ उन कड़ों पर एक साथ पड़े। छीना-झपटी में जिसके हाथ में जो पड़ा, उसने उतने से ही सन्तोष किया।

एक ने कहा—"साला, पागलपन का स्वाँग भरता है।"

दूसरे ने कहा—"मारो दो लात, इस चुड़ैल को भी।"

तीसरे ने कहा—"इसकी जमातलाशी लो—हरामजादी ने कुछ और छिपाया है।"

दो बहादुरों ने रूपी की जमातलाशी लेनी शुरू की। छोटे-छोटे दो-चार कुर्ते और बच्चे के सिर की, तेल से भींगी हुई टोपियाँ, उसके आँचल के भीतर से निकलीं। प्यादों ने उन्हें उठाकर एक ओर फेंक दिया—कोने में।

रामदीन चिल्लाता हुआ दौड़ा—"अरे इन्हें न छूना। देवी

की टोपियाँ हैं—मेरी देवी की। खेलने गयी है। हाय, यह क्या कर रहे हो ?"

रूपी पगली की तरह अपने सिर के बाल नोच रही थी और बड़बड़ा रही थी—"देवी, देवी—मेरी बच्ची ! ये एक दिन देवी को छीनकर ले गये, आज उसके कपड़े लिये जा रहे हैं। जाने दो, देवी को पहनायेंगे, वह बेचारी इस जाड़े में बिना टोपी की होगी, बिना कुर्ते की होगी—"भैया, कल देवी को मुझे दे जाना, अब जी नहीं लगता।

प्यादे ने कहा—"सीधी तरह बतला, और चीजें कहाँ हैं, नहीं तो जूतों से ठीक करूँगा। मैं देवी को नहीं जानता—चूल्हे में जाय तुम्हारी देवी। माल कहाँ है ?"

एक रहस्य

यौवन का उषःकाल !

यौवन का उषःकाल कितना मनोरम होता है। एक कसकसाहट और राजकीय आलस्य के साथ यौवन का उषःकाल मानसक्षितिज के एक छोर पर निखर पड़ता है। वह सपने की तरह चुपचाप आता है। मैं सच कहूँगा—कोई वजह नहीं कि सचाई का गला घोंटूँ। यौवन के प्रथम प्रभात का स्वागत मैंने गीता और उपनिषदों के मन्त्रों के साथ किया।

कवि का हृदय रो उठा !

जवानी कराह उठी—यह रुखाई, इतनी कठोरता ! मेरे सामने गैरीबाल्डी का उदात्त चरित्र था, प्रिंस क्रोपटकिन के जादूभरे लेख थे, बदलती हुई दुनिया का एक ज्वालामय नक्शा था। मैंने सोचा, महसूस किया—यह यौवन विधाता की मूल्यवान धरोहर है, यह यौवन उनकी आशा का केन्द्र-बिंदु है, जिन्हें

एक जोशीला साथी चाहिए, एक ऐसा सेवक चाहिए, अपने प्रति निष्ठुर हो, लापरवाह हो, सख्त हो। यह यौवन मेरा नहीं, लाखों-करोड़ों हतभागों का है, जिन्हें इसकी आवश्यकता है। आखिर जीवन का उपयोग क्या हो। मैंने सोच लिया—संसार में केवल कठोर कर्तव्य है, भीषण कर्मवाद है, अदम्य उत्साह है और खतरों से खेलने की प्रवृत्ति है।

मैंने यही किया—मेरी भावनाएँ पथरा गयीं। मैंने नाश में निर्माण का रूप देखा, हाहाकार में उल्लास की झलक पायी, एक व्यापक उथल-पुथल में चिर शान्ति को मुस्कुराते देखा। यौवन का यही तकाजा था; जवानी की यही मादकता थी! मैंने अपना एक अलग संसार बसाया, जिसमें एक मैं था और मेरी चारों ओर भयानक प्रलय का दहला देनेवाला नजारा। चारों ओर उथल-पुथल मची हुई है। मैं उस अग्निकुंड के बीच में सीधा तनकर खड़ा हूँ, सिर के लम्बे-लम्बे बाल बिखरे हुए हैं, चेहरा तमतमाया हुआ है। शरीर के कपड़े धूल और कीचड़ से सने हुए हैं—कोई नहीं है। नीचे जन-मानवहीन महा निर्जन वसुन्धरा और ऊपर ज्वाला से भरा हुआ आकाश। यही मेरे संसार का मानस-चित्र था। मैंने अनुभव किया कि मेरी रगों में इतने वेग से खून दौड़ रहा है कि उसकी छरछराहट बाहर तक सुन पड़ती है। यही यौवन का उष:काल था।

कौन कहेगा कि यौवन का उष:काल मनोरम होता है? कौन कह सकता है कि जवानी फूलों से भरी चँगेली है—कभी नहीं, यह ज्वाला की भयानक भट्ठी है, बशर्ते कि वह जवानी हो!

—२—

यौवन की दोपहरी—आह, कितनी ज्वालामयी!

चारों ओर निराशा, विभीषिकाएँ नटराज का दुर्द्धर्ष तांडव!

ज्वाला के पर्दे को जरा-सा हटाकर एक मूर्त्ति क्षण भर के लिये चमककर छिप गयी—कितनी मनोहारिणी ! यह क्या सपना था ? मैंने हृदय पर हाथ रखकर अपने को सँभाला। वह मोह है, हमारा कर्तव्य कठोर है। सँभलकर कदम उठाना होगा।

मस्तिष्क ने गुर्राकर कहा—"तू प्रलय का प्रवर्त्तक है—होश कर।"

हृदय ने धीरे से कराहकर कहा—"पगले, जीवन का यह उद्देश्य नहीं है, मानव-जन्म का यह लक्ष्य नहीं है।"

मेरे मन ने सहमकर कहा—"कितना माधुर्य, कितना आकर्षण !"

मैंने आँखें मलकर फिर देखा—वह मूर्त्ति मेरे सामने आकर खड़ी हो गयी। मैंने पूछा—"तुम कौन हो ?"

उत्तर मिला—"लता हूँ।"

मैं बोला—"क्या चाहिये ?"

वह बोली—"आश्रय ! तुम वृक्ष हो और मैं लता। मैं तुम्हारी डाली-डाली को अपने बन्धन में बाधूँगी और उन्हें अपने फूलों से सुरभित करूँगी।"

मैंने कहा—"तथास्तु !"

वही मूर्त्ति मुस्कुरायी। उसके प्रस्थान से सारा दृश्य बदल गया। वासन्ती हवा डोलने लगी। नदी के उस पार से कोयल बोल उठी—"कुहू।"

मैंने पहली बार अनुभव किया—कोयल की कूक कितनी मीठी होती है, वसन्त कितना मादक होता है, जीवन कितना सरस होता है। मैंने गैरीबाल्डी, मेजिनी और क्रोपाटकिन को धीरे से उठाकर मन के उस कोने में रख दिया, जहाँ विस्मृति का अन्धकार छिपकर बैठा हुआ था। मन भारयुक्त हो गया—दिल को राहत मिली !

यह यौवन की दोपहरी थी ! यह यौवन का पूर्ण वसन्त था।

—३—

मैंने पूछा—"रानी !"

उसने कहा—"चुप रहो, मैं...!"

मैं बोला—"इतनी नाराजी, पगली ! तू नहीं जानती, तेरा नाम मेरे लिये कितना प्रिय है—रानी ! रानी !! रानी !!!"

एक खिलखिलाहट से कमरा भर गया। मैंने अनुभव किया, मेरे होठों को कोमल और गरम-गरम कोई चीज छू रही है; मैंने अनुभव किया मेरे हृदय से सटकर कोई चीज धड़क रही है; मैंने अनुभव किया कि एक कोमल चीज मेरे गले के चारों ओर लिपटी हुई, मैंने अनुभव किया मेरी आँखें खोले नहीं खुलतीं—पलकें भारी हो गयी हैं। यह जीवन का प्रथम अनुभव था, यह जीवन की पहली झाँकी थी।

एक दिन रानी बोली—"तुम जरा अपनी ओर ध्यान दो। न कपड़ों की चिन्ता और न स्नान-भोजन की फिक्र ! यही हाल रहा, तो मैं घर चली जाऊँगी।"

मैं काँप उठा—अपनी ओर देखा, रानी का कथन सत्य है। मैं सचमुच लापरवाही की अन्तिम सीमा पार कर रहा था। क्यों ? पता नहीं—एक शुरूर था, एक तूफान था, जो मेरे बाहर को घेरकर हाहाकार कर रहा था।

मैंने कहा—"अब ऐसा नहीं होगा। मैं होश में नहीं था। न जाने मन किस ओर जाकर गुम गया था। मैं क्या करूँ !"

मेरी रक्षा का भार रानी ने सँभाला—शरीर मेरा था, पर उसके नष्ट न होने का भार स्वीकार किया रानी ने ! क्यों आखिर दूसरे के लिये कोई क्यों इतना चिन्तित हो उठता है, उद्विग्न हो जाता है, कातर हो जाता है ? शायद यह मानवीय कमजोरियों

में से ही है। कुछ भी हो, मैं अपनी ओर से निश्चिन्त था—अधिकाधिक और निश्चिन्त हो गया। अपनी चिन्ता का भार दूसरे पर छोड़कर मेरे कादर मन ने मानो अघाकर साँस लेने का सुखानुभव प्राप्त किया।

—४—

मित्र यौवन के उष:काल के साथ बोले—"तुम बेवफा निकले! करोड़ों लाचार आँखें तुम्हें निरन्तर खोज रही हैं और तुम मद-भरी आँखों में छिपे हुए हो—वे आँखें, जिन्होंने नेपोलियन को कायर बना दिया, दुष्यन्त से अनर्थ कराया···वे आँखें...!

मैं बोला—"नसीहत मत करो। मेरा पगला हृदय घबड़ाता है। मैं आ रहा हूँ—यह तो क्षणिक विश्राम था।"

मित्रों ने कहा—"तुम अब नहीं लौट सकते। इस पथ पर दो कदम भी आगे बढ़कर लौटना कठिन है, सो तो तुम इतना आगे बढ़ गये।" मैं लज्जित होकर बोला—"असम्भव! जब चाहूँगा, इस फूल की हथकड़ियों को तोड़ डालूँगा—जब लोहे की हथकड़ियाँ मुझे बन्दी नहीं बना सकीं, तो फूल की इन हथकड़ियों की क्या बिसात!"

मेरा मन कह रहा था कि मैं अपने को ठग रहा हूँ—तन के बन्धन से मन का बन्धन कठोर होता है, यह मुझे मालूम था; पर इस सत्य को याद करना नहीं चाहता था।

मेरा हृदय अन्तर्द्वन्द्व से भर गया। मेरी एक ओर मेरी कामना की भोली-भाली मूर्ति थी, दूसरी ओर कर्तव्य का रौद्र रूप था। हृदय बड़ी तेजी से कभी इधर और कभी उधर दौड़ता—कहीं विश्राम न था। मन कहता—"दो दिन की दुनिया में कुछ कर डालना बुद्धिमानी का काम है!"

हृदय कहता—"इस यौवन की दोपहरी को कामकाज बंद करो और दो घड़ी स्नेह की स्निग्ध छाया में अपनी श्रान्ति मिटा लो।"

दुनिया कहती—"दीवाना, अपने को भूलकर तू पछतायेगा।"

रानी कहती—"तुम मेरी साँस-साँस में रम जाओ, मेरे हृदय की प्रत्येक धड़कन में एकाकार हो जाओ, तुम मेरे जीवन के प्रत्येक क्षण में सौन्दर्य बनकर निवास करो।"

और मैं कहता—"मैं क्या करूँ, सभी मानने योग्य बात कह रहे हैं; पर परस्पर विरोधी—एक को मान लूँ तो दूसरी बात का खंडन आपसे आप हो जाता है।"

मैं एक आँख से हँसता और दूसरी से रो देता। आकाश का विस्तार, पृथ्वी का गुरुत्व और जीवन का माधुर्य एक-एक करके छोटा, हल्का और उदास जान पड़ने लगा। जिसे मैंने फूलों का बन्धन समझा, वह मेरे मन-प्राणों का बंधन बन गया। काठ छेदनेवाला भ्रमर कमल का बन्दी बन गया! कोई भी व्यक्ति अपनी उस स्थिति का अनुभव सहज ही में नहीं कर पाता जब कि वह दो समान बलवान आकर्षणों के बीच में पड़कर टँग गया हो—यही दशा मेरी हुई; पर लापरवाह बना रहा। दोनों ओर से मैं उदास-सा हो गया।

एक दिन रानी बोली—"तुम अनमने-से रहते हो?"

मैं बोला—"न जाने क्यों।"

उसने कहा—"मैं जानती हूँ। तुम कर्तव्यभ्रष्ट हो चुके हो; क्योंकि तुम्हारे हृदय ने मोह में पड़कर अपना हृदयत्व खो दिया है।"

मैं सहम गया। निर्बल हृदय का मनुष्य सदा कटु सत्य के सामने खड़ा होने से घबड़ाता है—वह नहीं चाहता कि उसकी परीक्षा ली जाय और वह सत्य के सामने! मेरा सहमना सकारण था।

—५—

एक वर्ष बाद !

वर्षा आयी, धानी चूनरी पहनकर ! मेरी चिरकामना की मूर्ति महाशून्य में इस वर्षा की एक डरावनी रात को विलीन हो चुकी थी—यह एक वर्ष मैंने किस तरह व्यतीत किया, बतलाना असम्भव है। मेरा सारा शोक एक विशेष दिशा में व्यक्त हुआ। दया से मुझे घृणा हो गयी, प्रेम का नाम सुनते ही मैं जल उठता। मानवता का जिक्र मुझे क्रोध से तड़पा देता—मैं नरपशु बन चुका था, घोर दुर्द्धर्ष बन चुका था, मानवता का कलंक बन चुका था। संसार मुझसे घृणा करने लगा और मैं संसार से घिनाने लगा। मेरे कृत्यों से पशुता भी लज्जित थी—यही समझें। मेरी कामना की रानी अनन्त में एकाकार हो गयी, तो इसमें संसार का क्या अपराध, दया का क्या दोष, मानवता का क्या कसूर था ? मैं स्वीकार करूँगा—कुछ नहीं; पर मेरा शोक एक ज्वालामयी झुँझलाहट के रूप में प्रकट हुआ और विश्व की इच्छाओं के खिलाफ ! हाँ, एक वर्ष बाद वर्षा आयी धानी चूनरी पहनकर। मैं अन्धकार में छिपा हुआ अपने घर के खँडहर की ओर आया। गाँव से दूर मेरा घर था, जो एक वर्ष तक आँधी-पानी से लड़-झगड़कर पराभूत हो चुका था—उसकी श्री उड़ गयी थी, कंकालमात्र शेष था। वह मिट्टी का एक डरावना ढूह बन गया था ! उसमें जंगली वृक्ष, पौधे उग गये थे।

मैं चुपचाप अपने खँडहर की ओर आया—शायद अपनी रानी की छाया दिखलायी पड़ जाय। शायद मेरी कल्पना उसकी मूर्ति धारण करके कहीं नजर आ जाय। मैं धीरे-धीरे नजदीक आया, तो मुझे एक अपरिचित सूरत नजर आयी, जो खँडहर के

द्वार पर सिर झुकाये बैठी थी। मैंने उसे देखा—उसने मुझे देखा। मैं ठिठककर खड़ा हो गया!

वह मद्य पीनेवाले की तरह लड़खड़ाता हुआ खड़ा होकर बोला—"तुम कौन हो जी?"

मैं बोला—"एक भूला हुआ पथिक!"

वह बोला—"आओ, बैठ जाओ, तुम ताड़ी पीते हो या शराब।" मुझे प्यास लग रही थी—यों ललचा गया। शराब पीना छोड़ दिया था, पर बोला—"शराब पीता हूँ, है तो दो।"

उसने कहा—"यहाँ शराब कहाँ भाई?"

मैं बोला—"इस खँडहर में क्या करते हो?"

"मैं—" वह कहने लगा—"अपने हृदय की आशा बुझाने आया हूँ। इस घर में मेरी प्रियतमा रहती थी—वह पिछले साल मर गयी। हम दोनों एक साथ स्कूल में पढ़ते थे। वह ब्याह कर यहाँ आयी थी और मैं 'नौकरी' करने बंबई चला गया। पत्र-व्यवहार होता था। उसने मुझे बुलाया था। फिर एक वर्ष तक मुझे कोई पत्र नहीं मिला। आज आया हूँ, तो पता लगा कि वह चल बसी। मैं भी अब मरना चाहता हूँ—भाई!"

मुझपर जैसे वज्र गिर गया। क्षणभर के लिये मैं पागल-सा हो उठा। अचानक चिल्लाकर बोला—"मरना चाहते हो, तो मैं तुम्हारी मंशा पूरी करता हूँ।" मैंने जेब से...निकाला।

× × ×

मैं जी रहा हूँ! अब यौवन का संध्याकाल शुरू हो गया है। मैं अपने दामन को देखता हूँ, उसपर खून के दाग पड़े हुए हैं। इसीलिए, दिन के प्रकाश में अपने आपको प्रकट करने से डरता हूँ। कानून मेरे लिए बैठा रस्सी बाँट रहा है। समाज मेरे लिये 'अरथी' बना रहा है और मैं अपने लिये एक बड़ी-सी चिता तैयार कर रहा हूँ—हम तीनों का काम बिना विरोध चालू है, बस!

सिर का दान

"शान्ता—!"

"क्या है ?"

"कुछ नहीं।"

"फिर, पुकारा क्यों ?"

"यों ही शान्ता ! कोई बात नहीं है। जी करता है कि तुम्हारा नाम लेता रहूँ। तुम नाराज तो नहीं होगी शान्ता ?"

"क्यों, नाराज क्यों नहीं हूँगी ? फिर वही पुराना पागलपन शुरू हुआ ! समझा दिया था न कि मुझे बार-बार मत पुकारा करो।

"मैं तो सदा यहाँ रहने का नहीं शान्ता ! आज हूँ, कल दूसरी जगह चला जाऊँगा। पता नहीं, कल किस वृक्ष की छाया में जेठ की दोपहरी बिताऊँगा। मैं क्रोध का नहीं, दया का पात्र हूँ शान्ता ! मुझ परदेशी पर दया रक्खा करो।"

"तुम्हारी बातें मेरी समझ में नहीं आतीं सुरेश ! तुम एक बेबूझ पहेली हो। हाथ जोड़ती हूँ ; मैं एक देहाती लड़की हूँ। पढ़ी-लिखी भी नहीं हूँ और न चक्करदार बातें समझने की आदत है।"

"तुम जो कहो—शान्ता ! परिस्थिति पर किसी का जोर नहीं चलता।"

"तो तुम कहाँ जाओगे—घर ? मैं भी चलूँगी। कब चलते हो ?"

"हाय, भोली-भाली लड़की ! घर की बात क्या पूछती हो ? मैं जानता भी नहीं कि मेरा घर किस तरफ है, कहाँ है, पहले कभी था भी या नहीं। सब कुछ भूल गया हूँ शान्ता ; सब कुछ भूल गया हूँ। तुम्हें कैसे समझाऊँ—तुम समझोगी भी नहीं। अपने आपको प्रकाश से दूर रखनेवाले टिमटिमाते हुए तारों को तुम दोपहरी को नहीं देख सकती शान्ता ! निबिड़ अन्धकार के काले

परदे पर ही वह दूर—बहुत दूर पर टिमटिमाता है। उसके जीवन का यही सुख है, यही साधना है, यही···।"

जेठ की संध्या। नदी का निर्जन तट। दूर-दूर फैली हुई बालू की चादर—बीच में मन्दगामिनी सरिता की पतली, तरंगहीन, शान्त शीतल धारा! मुग्धा की कटि-सी पतली सरिता की शोभा जेठ की संध्या नवयौवना विधवा की तरह उदास, पर उग्र शोभा के साथ क्षितिज के उस पार उतरी। नदी के उस पार की वनश्रेणी धुँधली होती-होती क्रमशः अन्धकार में डूब गयी। आकाश ताराओं से भर गया, मानो आकाश-गंगा के तट पर, दिन भर की गर्मी से परेशान शून्यनिवासी देवगण! वन के भीतर से कुत्तों के भूँकने का उदास, मनहूस और गम्भीर शब्द सुनाई पड़ने लगा। दूर पर जलनेवाली चिता का प्रकाश नदी-पुलिनों पर चमकने लगा। संध्या ने रात का रूप धारण किया। गाँव के मंदिर में शंख, घंटा बजने लगे।

नदी के शान्त, निर्जन तट पर एक नवयुवक, जिसको मसें भींग रही थीं, लेटा हुआ है और अनतिदूर एक अल्हड़-सी नवयुवती घड़ा लिये बैठी है। हवा के झकोरों से सिर के रूखे बाल उड़-उड़ कर युवती के भरे हुए चेहरे पर बिखर जाते हैं, जिसे वह अलसाये हुए हाथों से रह-रहकर हटा रही है। युवती, जिसका नाम शान्ता है गँवई की लड़की है: और युवक एक अज्ञात कुलशील व्यक्ति है, जिसका नाम सुरेश है। उसका नाम क्या है, यह तो वही जाने पर उसने गाँववालों को अपना परिचय इसी नाम से दिया है।

शान्ता बोली—"मैं देखती हूँ कि तुम्हें ऐसी बातें कहने में सुख मिलता है, जिनसे मुझे कष्ट हो। बोलो सुरेश, तुम्हें मेरी कसम है, जितना जी चाहे, जला लो। तुम मेरे कौन होते हो, जो मैं तुम्हें जाने से रोकने चली! तुम स्वतन्त्र हो। जब चाहो, जिधर चाहो, जा सकते हो···।"

बोलते-बोलते शान्ता का गला भर आया। वह अपने फटे हुए आँचल से आँख पोंछने लगी।

सुरेश बोला—"शान्ता, तुम नहीं जानती मैं कौन हूँ—क्यों इस गाँव में पड़ा हूँ, जिस तरह हरे-भरे वृक्ष को देखकर कोई यह कल्पना भी नहीं कर सकता कि इसके भीतर आग छिपकर बैठी हुई है, उसी तरह किसी के हँसते हुए मुखड़े को देखकर यह पता लगाना कठिन है शान्ता, कि इस हँसी के भीतर रुदन का ज्वार-भाटा भरा हुआ होगा। मेरी शान्ता! मैं अपराधी हूँ, जो मैंने अपनी स्थिति को भूलकर तुम्हारे भोले-भोले नादान हृदय के साथ खिलवाड़ किया। मैंने तुम्हें छला है रानी! मैं यह एक दूसरा अपराध कर बैठा। एक अपराध ने तो मेरे जीवन का रस सोख लिया और यह दूसरा—।"

अधीर होकर शान्ता बोली—"सुरेश, मैं कुछ बोलती हूँ? जो जी चाहे, कहो। जितना प्रहार कर सकते हो, करो। मैं तुम्हें कहने से नहीं रोकती। संसार के हिस्से में सुख पड़ा है और मेरे हिस्से में यही मनस्ताप पड़ा है सुरेश! मैं फिर तुम्हें कसम देती हूँ जो जी चाहे, कह डालो! मेरे जले कपाल में यही लिखा था। अपने किये का फल तो हर हालत में भोगना ही पड़ेगा—विधि का लिखा कौन मिटा सकता है सुरेश?"

शान्ता के दोनों गोल कपोलों पर से आँसुओं की धारा बह चली। उसका गला ऐसा रुँध गया कि वह चेष्टा करके भी नहीं बोल सकी। गरम हवा के हल्के-हल्के झोंकों ने आकर आलस्य फैला दिया। एक प्रकार से सर्वत्र उदासी छा गयी। दूर पर चुपचाप एक चिता अपने मन से धधक रही थी। शव-दाह करनेवाले चले गये थे। चिता के हल्के प्रकाश में शान्ता जल की ओर अपनी सजल आँखें लगाये बैठी थी। सुरेश करवट लेता

हुआ बालू पर लकीर खींच रहा था। आकाश ताराओं से भरा हुआ था और सामने, नदी के उस पार का वन, अन्धकार में छिपा हुआ था। नदी के शीतल तट पर पंख फैला-फैलाकर मत्स्य-भोजी बगुलों का झुंड उतर रहा था। चिता से लाल मटमैला प्रकाश फैल रहा था।

—२—

सुरेश बोला—"शान्ता, आज शायद अन्तिम बार हम एक दूसरे के सामने बैठे हुए हैं। समय आ गया है कि मैं तुमसे क्षमा माँगकर अपनी जीवन-नैया को सीमाहीन सागर में छोड़ दूँ। मैं नहीं चाहता था कि सुधा के प्याले में विष घोलूँ, पर मेरी रानी! मैं सुधा-पात्र का अधिकारी नहीं था। दैव से जोर-जबर्दस्ती कर मैंने भले ही सुरदुर्लभ सुधा-पात्र को छीन लिया था; पर दुर्दैव का षड्यंत्र चलता रहा और अन्त में मुझे उसके सामने सिर झुकाना पड़ा। भाग्य के साथ बहस नहीं छेड़ी जा सकती। भाग्य के प्रहारों को न तो पैंतरे से और न ढाल पर ही रोका जा सकता है। उसकी मार एकदम सीधी और प्रहारक के मनोनुकूल असर पहुँचानेवाली होती है। ऐसी मार के लिये मरहम-पट्टी या अदालत में जाकर फरियाद करना भी व्यर्थ है। मैं एक ऐसा ही सताया हुआ मनुष्य हूँ। न जाने कितने घाट का पानी पीता हुआ आया और तुम्हारे दयालु पिता ने आश्रय दिया। यह एक वर्ष मेरे जीवन का सर्वश्रेष्ठ वर्ष है। कितना स्नेह, कितनी ममता, कितना आदर प्राप्त किया शान्ता, यह हिसाब-किताब करके बतलाना कठिन है, असम्भव, व्यर्थ-प्रयास है।

"मैं कह चुका हूँ कि दुर्दैव का एक भागा हुआ शिकार हूँ, जिसकी खोज में वह पत्ता-पत्ता छान रहा है। कल मैंने देखा, कुछ पुलिसमैन गाँव के आसपास मँड़रा रहे हैं। मैंने समझ लिया कि

बस, सुख और शान्ति के दिन पूरे होने की मुनादी दे दी गयी, एलान कर दिया गया। स्वर्ग भोगने भर जितना पुण्य था, वह समाप्त हो चुका। अब मेरे लिए रौरव नरक की भीषण ज्वाला व्याकुल हो रही है। सत्याग्रह के द्वारा स्वर्ग-प्रवेश कैसे सम्भव हो सकता है। शान्ता, तुम्हें आश्चर्य होगा कि पुलिस से मेरा क्या सम्बन्ध, पर मेरी भोली-भाली शान्ता, तुम जान लो कि इस समय तुम एक ऐसे मनुष्य के पास बैठी हो, जिसके सिर की कीमत ५०००) रु० नकद कूती गयी है। इतना मूल्यवान सिर शायद किसी राजा का भी नहीं होता। मेरे इस सिर की, जिसपर विधाता की लौह लेखनी ने संसार भर की सभी आपदाओं का एक लम्बा-सा सूचीपत्र लिख रक्खा है, नकद ५०००) कीमत है। शान्ता! समझ लो, यह तुम्हारे गाँव से भी अधिक कीमती है।

"सुनो, अब चिन्ता करना व्यर्थ है शान्ता! मैं सोचता हूँ कि पड़ोसी के पाप से अपना घर भी जलता है। यदि पड़ोसी के पापों के फलस्वरूप उसके घर में आग लगे ही, फिर अपने घर पर खतरा ही समझो। मेरा और तुम्हारा हृदय एक दूसरे का पड़ोसी है। मेरे पापी हृदय की छाया पड़ने से तुम्हारे हृदय को भी यह वेदना भोगने को बाध्य होना पड़ा है। तुम्हारा स्नेह, अपमान और रूप मेरे हृदय...।"

"तुम्हें क्या हो गया है सुरेश?"—शान्ता बोली—"मैं तो कुछ भी नहीं समझती। तुम्हारे सिर को कौन खरीदेगा और क्यों ५०००) इसकी कीमत आँकी गयी है, मैं यह सब जानना नहीं चाहती। तुम्हारा मन ऊब उठा हो मुझ जैसी गँवारिन, अपढ़ मूर्खा से, तो यह दूसरी बात है। शहर की लड़कियाँ जैसी सुशिक्षिता हम गँवई की मजदूरिन हो नहीं सकतीं। तुम पढ़े-लिखे हो; मेरे साथ तुम्हारा मनोरंजन हो नहीं सकता सुरेश!

इसमें अधिक सोचने-विचारने की बात नहीं। तुम मुझे टूटे दाँत की तरह मुँह से निकालकर घृणापूर्वक फेंक देना चाहते हो, तो फेंक दो। मैं तुम्हें कुछ नहीं कहती। मैं सुन्दर तरीके से अपने मनोभाव भी प्रकट नहीं करना जानती। हाय रे दुर्भाग्य...!"

इतना बोलकर शान्ता बच्चों की तरह फूट-फूटकर रो उठी। सुरेश उठकर बैठ गया और शान्ता को अपनी ओर खींचकर बैठाने का प्रयत्न किया, तो वह हाथ झटककर रोती-रोती बोली—"छोड़ो मुझे। मैं जान दे दूँगी, अगर मेरा शरीर छुआ तुमने। तुम जाते हो, तो जाओ। मैं तुम्हारी कौन हूँ ? घर पर तुम्हारी स्त्री होगी, बहिन होगी, माँ होगी। मैं कुल-कलंकिनी तुम्हारी कौन होती हूँ ? तुमने मुझे छला। परमात्मा न्याय करेंगे। अब कहते हो—'जाऊँगा'। अच्छा, तुम्हारी मरजी ! तुम मुझे दूध की मक्खी समझते हो, पर जिस परमात्मा ने संसार में भेजा है, वह मेरा त्याग नहीं कर सकता। मैं उसी की शरण में जाऊँगी। छलिया ! निर्दयी !...धोखेबाज !"

सुरेश ने शान्ता के कन्धे को धीरे-धीरे थपथपाते हुए कहा—"तुम नाराज होती हो शान्ता ! पर, यदि धैर्यपूर्वक मेरी कहानी सुन लो, तो फिर तुम्हारी क्रोधाग्नि करुणा की भाफ बनकर उड़ जाय। मैं विनय करता हूँ—एक बार स्वस्थ मन से मेरी गाथा सुन लो, मेरी शान्ता !"

शान्ता सुरेश के पैरों को अपने दोनों हाथों से पगली की तरह कसकर पकड़ती हुई बोली—"तुम मेरा गला काट लो, मैं एक शब्द नहीं बोलूँगी। मैं तुम्हारी हूँ। तुम्हारे चरणों की छाया में ही जी सकती हूँ सुरेश, मैं नहीं चाहती कि मेरा जीवन सुरेश की स्मृति में उठनेवाली ज्वाला से झुलस-झुलसकर व्यतीत हो। सुरेश को अपने निकट चाहती हूँ—यही चाहती हूँ।"

पगली की तरह वह दोनों हाथों से मुँह ढँककर अपने दोनों घुटनों के बीच में सिर डालकर रोने लगी। सुरेश निर्निमेष दृष्टि से रह-रहकर धधकने और आग की चिनगारियों की फुलझड़ी-सी छोड़नेवाली चिता की ओर देखने लगा। उसे ऐसा लगा कि चिता के भीतर से कोई झाँक-झाँककर उसे देख रहा है और कह रहा है कि—"मेरे निकट आ जाओ। सच्ची शान्ति राज-सिंहासन पर नहीं, चितासन पर तुम्हें प्राप्त होगी। आ जाओ, प्यारे साथियो !"

अपने बिखरे हुए धैर्य को बलपूर्वक समेटकर सुरेश बोला—'सुनो शान्ता ! सारी व्यवस्था ठीक है। मैंने तुम्हारे परिवार की शरण में स्वर्ग-सुख प्राप्त किया है। तुम्हें मैं प्यार करता हूँ, पर मेरी स्थिति ऐसी है कि हम वैवाहिक बन्धन में बँध ही नहीं सकते। मेरा जीवन फाँसी की रस्सी में झूल रहा है और तुम्हारा जीवन अभी एक सद्यःप्रस्फुटित फूल की तरह प्यार करने की वस्तु है। मैं भी फूल हूँ, पर शव पर चढ़ाया जा चुका हूँ और वह शव चिता पर रक्खा जा चुका है। उस शव के साथ अपनी समस्त सुषमा को त्यागकर मुझे भी भस्म होना ही पड़ेगा। और तुम अपनी डाली की रानी हो। तुम्हारे लिए सुख का भार लादे देश-देश से मधुप उड़ते हुए आ रहे हैं—मैं तुम्हें अपने साथ महा अग्नि की आहुति नहीं बनाऊँगा। यह मुझसे नहीं होगा—! •

मैंने देखा कि तुम्हारे पिता चरम कोटि के गरीब हैं। तुम अभी क्वाँरी हो, अनाघ्राता कलिका हो। किसी सत्पात्र के हाथों में तुम्हें सौंपकर वे सुख से मर सकेंगे। उनका चिंतानल का झुलसा चेहरा मेरे हृदय में फफोले उठा देता है। मैंने उन्हें समझाकर राजी कर लिया है—वे मान गये हैं।

शांता, मेरी शांता ! मेरी गिरफ्तारी के लिये ५०००) पुरस्कार की घोषणा बार-बार की गयी है। मैंने तुम्हारे पिता के नाम से आज पुलिस-आफिसर के पास पत्र लिख दिया है और तुम्हारे पिता को कह आया हूँ कि यदि 'जीवनशर्मा' को खोजती हुई पुलिस आवे, तो उसे नदी तट पर भेज दीजियेगा—बस ! अब समय हो गया मेरी शान्ता ! बस, अब विदा दो। तुम्हारे पिताजी को ५०००) पुरस्कार मिल जायगा। इतने रुपयों में वे तुम्हारा ब्याह कर सकेंगे और कुछ जमीन खरीदकर अपने शेष जीवन को सुखपूर्वक व्यतीत कर सकेंगे। इससे अधिक मेरे पास कुछ नहीं है शान्ता, जो मैं तुम्हारे गरीब और नेक पिता को भेंट कर सकूँ। एक बात और... ।"

× × ×

अन्धकार पर आग की लकीर-सी बनाती हुई अनेक बिजली की बत्तियाँ चमक उठीं, चारों ओर से मानो घेरा बनाकर पुलिस के जवान सुरेश की ओर बढ़ रहे हों। शान्ता ने चौंककर इस दृश्य को देखा और वह एक बार चिल्लाकर सुरेश से लिपट गयी। अन्धकार को चीरती हुई एक गुर्राती-सी आवाज आयी— "हैंड्स अप"। सुरेश ने दोनों हाथों को ऊपर उठाकर कहा— "वेल कम्"।

× × ×

जेठ की रात जनहीन नदी में हाहाकर कर रही थी। गाँव के निवासी गहरी नींद में सो रहे थे और सुरेश की कच्ची सड़क पर मुश्कें कसी जा रहीं थीं। शांता को एक पुलिस के जवान ने कसकर एक धक्का दिया ; वह दूर जा गिरी और बोली—"मेरे सुरेश को छोड़ दो या मुझे भी ले चलो।" किसी ने ध्यान नहीं दिया। सुरेश को लेकर मोटर धूल उड़ाती हुई चली। शान्ता

पगली की तरह मुट्ठी-मुट्ठीभर धूल उठाकर अपने सिर पर उड़ाने लगी। निर्जनता ने उसका साथ दिया।

निर्जन सड़क। निर्जन रात। आकाश में चुपचाप तारे टिमटिमा रहे थे। सर्वत्र शांति, शांति, महाशांति—बस !

दिनों का फेर

उस बच्चे का नाम था—'निरंजन'।

निरंजन मिट्टी का एक छोटा-सा प्रदीपमात्र था, पर था भुवन भास्कर का प्रतिनिधि। संध्या के बाद जब अपनी काली छाया संसार के आँगन में फैलाकर रात हँसती है, मिट्टी का प्रदीप आगे बढ़ता है—दिवाकर का प्रतिनिधि बनकर। माधव बाबू के संतान-हीन मन पर निरंजन का कवित्वमय अधिकार था। उनकी जीवन-सहचरी—सीता—निरंजन को गोद में सुलाकर अपने को मातृपद की अधिकारिणी मानती थी। निरंजन माधव बाबू के एक गरीब रिश्तेदार का बच्चा था, जिसे सीता ने अपने बच्चे की तरह पाला था। पाँच साल का निरंजन माधव बाबू को पिता और स्नेहमयी सीता को जननी के रूप में जानता था। वह सुन्दर और भोला-भाला कोमल बच्चा था।

माधव बाबू एक सम्पन्न व्यक्ति थे। ईश्वर ने संतान के अतिरिक्त उन्हें सब कुछ दे रक्खा था। माधव बाबू बैंक के अपने 'पास बुक को देखकर मन को शान्ति प्रदान करते थे; पर सीता के लिये तो एक नन्हा-सा खिलौना चाहिए ही, जो उसके आँगन को अपने ऊधमों से मुखरित करता रहे। किसी मातृपदविहीना के मन की दरिद्रता सोने से नहीं, नन्हें-से बच्चे से ही मिट सकती है। निरंजन सीता की गोद का एक कोमल फूल था—उसकी हँसी के साथ सीता हँसती और उसकी रुलाई के साथ रोती।

निरंजन सीता, सीता निरंजन, दोनो में कोई भेद न था—दोनों का स्वर्ग दोनों की आँखों में निहित था, दोनों का सुख दोनों के अन्तर में आबाद था। सुख के पालने पर मीठी नींद सोकर निरंजन ने अपने जीवन के जब पाँच आनन्दमय वर्ष व्यतीत किये, तब सीता की गोद में एक नन्हा-सा बच्चा मुट्ठियाँ बाँधे आया—अपने संतान के रूप में! अनजाने में निरंजन का भाग्यसूर्य धीरे-धीरे पश्चिम की ओर खिसकने लगा। यह दैव की माया थी—कोई देख भी न सका! दुर्भाग्य मुनादी देकर नहीं आता—वह चुपचाप आ जाता है। प्रभात होते ही प्रदीप की श्री लुट गयी। वह घर के एक मलिन कोने में अपनी समस्त कालिमा के साथ रख दिया गया।

—२—

इस बच्चे का नाम था—'नारायण'।

नारायण देखते-देखते साल भर का हो गया। गोरा-गोरा फूल-जैसा सलोना बच्चा माधव बाबू और सीता के मन-प्राण का—अज्ञात-रूप से—अधिकारी बन बैठा और निरंजन का अधिकार धीरे-धीरे कुहरे की तरह लोप हो गया। निरंजन की जगह पर नारायण की मुस्कुराहट की विभा फैल गयी। घर के नौकरों और दाइयों ने भी निरंजन की ओर से अपनी प्यारभरी आँखें मोड़ लीं। एक दिन निरंजन रोता हुआ माधवबाबू के निकट आया। माधवबाबू कुछ लिख रहे थे। उन्हें यह उपद्रव अच्छा न लगा। निरंजन बोला—"बाबूजी, महादेव ने मुझे मारा है।" महादेव दरवान था। माधवबाबू ने कागज पर नजर गड़ाये ही, ऊबे हुए स्वर में उत्तर दिया—"तू खुद पाजी है। भाग! मैं महादेव को समझा दूँगा।" निरंजन की पीठ पर यदि माधव बाबू देखते, तो महादेव की दो उँगलियों का निशान उभड़ा हुआ

था ; पर वे एक आवश्यक हिसाब जाँच कर रहे थे। इतनी फुर्सत न थी। कामकाजी आदमी ठहरे। निरंजन के लिये यह नया अनुभव था। वह सिसकता हुआ सीता के निकट पहुँचा, जो नारायण को लोरी गाकर सुला रही थी। अपनी माता के निकट पहुँचते ही करुणा का वेग उमड़ आया। निरंजन जोर से रो उठा। सीता ने झल्लाकर पूछा—"क्यों इतना गला फाड़ रहा है—क्या बाघ खा रहा है तुझे ?" निरंजन के घिग्घी बँधी हुई थी। वह सीता का दुलार खोजता था, वह चाहता था कि सदा की तरह उसकी अम्मा उसे गोद में उठा ले, चूमे और प्यार से पूछे ; पर...। सीता ने निरंजन का कान पकड़कर धमकाते हुए कहा—"देखता नहीं, बचुआ की आँख अभी लगी है। गधे की तरह क्यों रेंक रहा है। भाग—खेल जाकर बाहर। अभी तो खाकर गया है, क्या भूख लगी है—पेट में महामाया समा गयी क्या ?" वह निरंजन के कान पकड़कर कमरे से बाहर पहुँचा आयी। कच्ची नींद से चौंककर नारायण रोने लगा, तो सीता बोलने लगी—"मैं तो थक गयी उन्हें कहते-कहते। इस दुष्ट लड़के को इसके बाप के हवाले क्यों नहीं कर देते। पराये की जहमत अपने सिर लादे रहने में उन्हें न जाने क्या सुख मिलता है। बचुआ का दूध-बिस्कुट चुराकर खा जाता है—दरिद्र के घर का लड़का है, फिर कैसी बुद्धि हो।" सीता की एक प्यारी दाई थी मँगरी। मँगरी ने सुर में सुर मिलाकर कहा—"कलंक का घर है मालकिन ! निरंजन छिपाकर बीड़ी-तम्बाकू पीता है—चोर तो एक नम्बर का है। आपके डर से कुछ नहीं बोलती। बचुआ की मिठाई चुरा-चुराकर दिन भर खाता रहता है। जब देखो तब इधर-उधर कुछ न कुछ ढूँढ़ता ही फिरता है। भेज दो इसे अपने मा-बाप के घर। कुछ करते कुछ हो जाय,

तो बैठे-बिठाये भाई पर कलंक का टीका! दैया री, मैं तो पराई थाती से घबराती रहती हूँ।"

बात यह थी कि मँगरी नारायण की धाय थी और अपने बच्चे के लिये वह नारायण का बिस्कुट और दूध प्रायः चुरा लिया करती थी और इस पाप का पहाड़ ढकेल देती थी गरीब निरंजन के सिर पर! प्रतिवाद का ज्ञान उस निरीह बच्चे में न था। मँगरी का अपराध निरंजन के सिर पर ढेर होता गया।

—३—

एक छोटे-से कांड ने निरञ्जन के निष्ठुर भाग्य का फैसला तब कर दिया, जब वह तेज बुखार में संज्ञाहीन पड़ा हुआ था। एक दिन निरंजन पर हठात् ज्वर ने आक्रमण किया। वह ज्वर की हालत में दिनभर धूप में अकेला बैठा काँपता रहा। सन्ध्या समय जब खाने बैठा, तो खाया न गया—दो-चार ग्रास खा चुका, तो उलटी हो गयी। मँगरी आँखें मटकाकर बोली—"दिन भर चुरा-चुराकर खाता रहता है। पेट में जगह हो तब न खाय। जब भूख नहीं थी, तो इतनी पूरियाँ क्यों जूठी करने बैठ गया?" सीता ने एक चाँटा मारकर जब उठाया, तो उसे ऐसा लगा कि निरंजन का हाथ गरम है। वह कुछ घबरायी और उसे लाकर उसने खाट पर सुला दिया। रोता-रोता बेचारा सो गया। उसकी खाट दाई के कमरे में बिछा दी गयी। रात को जब माधव बाबू आये, तो उन्हें राय दी गयी कि निरंजन के पिता को इसकी खबर दे दी जाय; क्योंकि कुछ भला बुरा हो जाने पर व्यर्थ बदनामी होने का खतरा है। सुबह माधव बाबू ने कार्ड लिख दिया और तीसरे दिन निरंजन का बाप फटा हुआ मैला कुरता पहने नंगे पाँव हाजिर हो गया। निरंजन प्रायः बेहोश पड़ा था; वह उसे

उठाकर अस्पताल ले गया। फिनाइल वगैरह से धुलवाकर घर शुद्ध कर दिया गया। बीच-बीच में स्वयं कष्ट उठाकर माधव बाबू अस्पताल जाते और निरंजन को देख आते। कभी-कभी दो-चार रुपये देकर निरंजन के दरिद्र पिता को भी संतोष दे देते। कोई डेढ़ मास के बाद जब निरंजन ने ज्वर से त्राण पाया, तो उसके पिता ने माधव बाबू से कहा—"बच्चे के सम्बन्ध में आपने क्या फैसला किया ?" वह शर्माता हुआ बड़ी विनय से बोला।

माधव बाबू बोले—"भाई, हम पराये की थाती रखने में असमर्थ हैं। आप ही सोचें, जहाँ तक हमसे हो सका, हमने आप लोगों की सेवा की। हाँ, आप मुझे लिखियेगा, आगे भी हमसे जैसी सेवा बन पड़ेगी, करेंगे; पर अच्छा हो कि निरंजन को अपने साथ ही लेते जायँ। देहात की हवा लगने से उसका टूटा हुआ शरीर भी जुट जायगा।" निरंजन के पिता का सुख-स्वप्न सहसा भंग हो गया। वह थका-सा, हारा-सा चला गया। मन-ही-मन उसने अपने पुत्र के भाग्य को कोसा और उसे हैजा या प्लेग की भेंट चढ़ाने की अशुभ कामना करता हुआ घर की ओर रवाना हो गया। निरंजन के भाग्य का पटाक्षेप हो गया।

× × ×

पाँच वर्ष बाद !

माधव बाबू सपरिवार मंसूरी जा रहे हैं। गर्मी पड़ रही है। डाक्टरों की राय से नारायण के लिये मंसूरी जाना जरूरी हो गया। जैसे माधव बाबू घर छोड़ने को तैयार न थे। स्टेशन पहुँच-कर माधव बाबू ने पहले दर्जे में अपना बिस्तर लगाया, नारायण भी अपनी मा के साथ बैठा। माधव बाबू कुलियों को इनाम देने के लिये प्लेटफार्म पर खड़े हैं—दर्जनों कुली खड़े कोलाहल कर रहे हैं। फटे कपड़े पहने एक भिखमंगा आया—ग्यारह-बारह

साल का। वह अचानक माधव बाबू के सामने आया और फिर तुरन्त मुँह फेरकर दूसरी ओर चला गया। भिखमंगा रोगी-सा था—हाँफ रहा था।

सीता ने कहा—"उस भिखमंगे को देखा तुमने ?—निरंजन-जैसा लगता था।"

माधव बाबू बोले—"थरमस में बर्फ है या नहीं ? नारायण को प्यास लगी, तो अरे ओ "आइसवेंडर—इधर-उधर !" सीटी देकर गाड़ी खुल गयी।

वे बच्चे....!

जेठ का महीना था। हरिपुर गाँव से बहुत दूर ऊसर और खेतों के उस पार जो पक्की सड़क गयी थी, वहाँ दो-तीन छोटी-छोटी दूकानें दिन में नजर आती थीं। हरिपुर, सहदेवनगर, जैपुरवा आदि गावों को जानेवाले यात्री यहीं 'बस' से उतर पड़ते थे और यही कारण था कि सत्तू, तम्बाकू, तेल की जलेबियाँ और कचौरियों की दो-तीन दूकानें खुली नजर आती थीं। दूर-दूर से आकर, अपनी छोटी पूँजी के बल पर जीवन-नैया को पार लगाने की हिम्मत रखनेवाले, दो-चार देहाती यहाँ दूकान लगाकर बैठा करते थे। मोटर, यहाँ यों भी प्रायः एक घंटा ठहरती थी और यात्रियों को—दूर जानेवाले ग्रामीण यात्रियों को—कुछ देर ठहरने का अवसर अनायास मिल जाता था।

एक पक्का कुआँ और बड़-पीपल की छोटी-सी छायादार बारी बस, यही उस स्थान की रौनक थी ; सजावट थी ; सुन्दरता थी। दोपहर को जब आकाश तवा-सा तपता और भूमि भट्टी की तरह भभकती, तो इसी बारी में हरिपुर वगैरह गाँवों की ओर जाने-वाले यात्री विश्राम करते या बगल के ताड़ीखाने जाकर शिमला,

दार्जिलिंग, मंसूरी, उटकमंड का लुत्फ दो-चार आने में आसानी से उठाते। ताड़ के दो-चार पत्तों से छाया हुआ यह ताड़ीखाना अपने भीतर भिनभिनाती हुई मक्खियों से घिरे रहनेवाले ताड़ी के बड़े-बड़े मटकों को छिपाकर, मानों ताड़ी पीनेवाले रसिकों का मन बलपूर्वक हरण करता था। मिट्टी से भली-भाँति पुती हुई भूमि पर, टूटे चुक्कड़ों और अधजली बीड़ियों पर झुण्ड-के-झुण्ड हरी-हरी घिनौनी मक्खियाँ भिनभिनाया करती थीं।

इस बाजार में हरिपुर के दो बच्चे भी आते थे—तेल की जलेबियाँ और कचौरियाँ बेचने। पहले इनका अभागा बाप आता था; पर जब से वह मर गया, अपने पैत्रिक व्यवसाय को दोनों बच्चों ने सँभाला। एक बच्चा करीब बारह साल का था और दूसरा छः साल का—दोनों दुर्बल और रोगी-जैसे नंग-धड़ङ्ग बच्चे आम तौर पर, आधा पेट खाकर जीवन का दुर्वह भार ढोनेवाले, देहातों में, गाँव के खेतों में या तो ढोरों के साथ या गलियों में ईंट-पत्थर चलाते हुए और गालियाँ बकते हुए नजर आते हैं।

दोनों भाई नित्य दो कोस चलकर आते और जो कुछ मिलता, ले-देकर घर की ओर चले जाते। लकड़ी के एक चौकोर तख्ते में कई खाने बने हुए थे और उनमें बाँट, तराजू, जलेबियाँ, कचौ-रियाँ आदि सामान रक्खा हुआ होता तथा ऊपर से एक अत्यंत गंदा तेल से भरा हुआ कपड़ा ढँका होता, जिससे पुराने जले हुए तेल की दुर्गन्ध सदा निकलती रहती। यही खोनचा था, जिससे एक परिवार का पालन-पोषण होता था। सड़क के किनारे बैठकर दोनों बच्चे अपना सौदा बेचा करते और फिर जो बच जाता, उसे लेकर घर की ओर चल पड़ते। भूखे रहने पर भी कभी कचौरियों या जलेबियों पर हाथ नहीं डालते। घर पर बैठी हुई अपनी मा का स्नेहमिश्रित भय इन्हें सदा सीधे पथ पर चलने के लिये बाध्य

करता। माता का स्नेह इनके नन्हें-नन्हें हृदयों को ताजा रखता, इन्हें मुर्झाने न देता और भय सदा इन्हें सतर्क रखता। मा से दूर रहते हुए भी ये बच्चे यही अनुभव करते कि मा की दो बड़ी-बड़ी स्नेहपूर्ण आँखें इन्हें आकाश से, वृक्षों के झुरमुट में से धूलि के बवंडर के भीतर से, झमाझम बरसनेवाले काले-काले बादलों के भीतर से, लगातार देख रही हैं—ये गाँव से दूर, स्वतन्त्र नहीं हैं। बल्कि अपनी माता की सदा सतर्क आँखों के पहरे के भीतर ही हैं।

दोनों बच्चे अपनी मा के दिन-रात, इहलोक-परलोक, साहस-कर्तव्य, हँसी-रुदन, सुख-दुख, जीवन और मोह-जैसे थे।

—२—

हाँ, जेठ का महीना था और लू की गर्जना से शून्य भर गया था। जेठ की जलती आँखों के सामने ठहरने का साहस किसे था ? प्राणिमात्र छाया या शरण की टोह में व्याकुल थे। अग्नि-स्नान करके लंका में रोक रक्खी जानेवाली वैदेही की तरह धरणी शुद्ध हो रही थी। हवा के गरम झोंकों से कच्ची सड़कों की धूल बवंडर की तरह उड़ती थी। अस्त-व्यस्त पंखोंवाले पक्षी, डालों पर चोंच खोलकर हाँफते हुए नजर आते थे। आकाश का रंग मटमैला दिखलाई पड़ता था। जेठ के रूप में अपनी तीनों आँखों को खोलकर मानों प्रलयंकर नटराज नृत्य कर रहे हों।

दिन चढ़ रहा था। एक मोटर-लारी आयी और कुछ देर ठहरकर चली गयी। दो-चार यात्री उतरे और सीधे पगडंडी की ओर मुड़कर चलते बने। दूसरी लारी आयी। इसमें बारात थी। बाराती गाते-बजाते जा रहे थे। यह रिजर्व गाड़ी थी ; फिर भी कुछ देर को ठहर गयी। बच्चों ने कुछ कचौरियाँ और जलेबियाँ बेचीं भी—कुछ सौदा हो गया। दिन और चढ़ा। १० का समय

हो गया। लू के थपेड़े जोरदार हो गये—बवंडर का जोर बढ़ा। पड़ाव उजाड़-सा हो गया। दूकानदार दोपहर बिताने के लिये घनी बारी की ओर चले। दोनों बच्चों ने भी घर की ओर जाने की तैयारी की। इनकी मा इधर कई दिनों से रुग्ण थी। घर पर मा को अकेली छोड़कर ये संध्या तक कहीं ठहर नहीं सकते थे; मा ने भी कहा था—"चले आना।"

बड़े बच्चे का नाम, जिसकी उम्र १२-१३ साल की थी, जग्गन था और छोटे बच्चे का, जो करीब ५-६ साल का था, सुक्कन। बड़े भाई जग्गन ने गिनकर पैसे और अधेलों को अच्छी तरह गाँठ में बाँध लिया और जाने की तैयारी की। इनके सहयोगी दूकानदारों ने इनकी ओर ध्यान भी नहीं दिया; किसीने मना भी नहीं किया। वहाँ इन गरीब बच्चों का अपना कौन बैठा था, जो दया दिखलाता, उस तड़पती हुई धूप में जाने से रोकता, उस महाकाल के धधकते हुए खप्पर में कूद पड़ने से समझाता? जग्गन ने अपने छोटे भाई के हाथ में एक कचौरी देकर कहा—"जल्दी चलो, माँ खोज रही होगी। खाते-खाते चलो—अरे, देखते नहीं ...दिन चढ़ रहा है?" ललचाई हुई आँखों से अपने हाथ की लाल-लाल फूली हुई कचौरी को देखते हुए सुक्कन ने सम्मति-सूचक सिर हिला दिया, मानो वह अपने भाई से पाँच कदम आगे चलने को तैयार हो। दोनों सड़क से उतरकर खेतों की मेंड़ पर चलने लगे। जग्गन के सिर पर भारी खोनचा था और सुक्कन अपनी लटपटी धोती को सँभालता, कचौरी खाता पीछे-पीछे चल रहा था। न सिर पर छाता और न पैरों में जूते—उसपर जेठ का महीना और दोपहर का रंगमंच पर प्रवेश।

दिगन्त तक फैले हुए रेगिस्तान की तरह उजड़े खेत। कहीं हरियाली का नाम नहीं। उसमें हवा से उड़ती हुई धूलि का डरा-

बना बवंडर। सिर पर भास्कर तप रहे थे और पैरों के नीचे जल रही थी वह धरित्री, जिसे 'बन्दे मातरम्'-गान के कवि ने 'सुजलां, सफलां, मलयजशीतलां, शस्यश्यामलां' आदि कहकर अपने हृदय के पूर्ण आवेग से पुकारा है। वही सजला-सुफला उन अनाथ बच्चों के लिये तपते हुए तवे का रूप धारण करके प्रकट हुई।

जग्गन ने दूर-दूर तक नजर दौड़ाकर देखा—न कहीं एक चिड़िया नजर आयी और न एक हरी पत्ती या दूब ही। श्वेत मिट्टीवाले खेतों पर दिनकर की प्रखर किरणें चमक रही थीं और हवा के प्रत्येक झोंका के साथ आग की चिनगियों की तरह तपी हुई धूल उड़कर उनके वस्त्रहीन दुर्बल शरीर को झुलसा रही थी। खेतों का अन्त न था और उन्हें अभी काफी दूर जाना भी था। खेतों के बाद जगदीशपुर की घनी बारी थी, जहाँ 'पनशाला' भी थी और उसके बाद फिर सहदेवनगर का उजाड़ मैदान था। तब कहीं कोसी नदी थी, जिसमें बरसात के बाद एक बूँद जल का दर्शन भी आठवाँ आश्चर्य माना जा सकता है। कोसी नदी के बाद ? उफ् ! अभी तो हरिहरपुर की कल्पना भी असम्भव है। दोनों बच्चे अपनी पूरी ताकत से जल्दी-जल्दी पैर बढ़ाये जा रहे थे। अपने नन्हें-नन्हें कदमों से इन्हें जीवन का दिगन्त-व्यापी रेगिस्तान नापना था !

—३—

"भैया, प्यास लगी है।"

सुक्कन ने अपने हाथ की कचौरी समाप्त करके होठों को बड़ी बेकली के साथ चाटते हुए कहा—"भैया, प्यास लगी है।" जग्गन ने इधर-उधर नजर दौड़ाकर देखा। बहुत दूर पर क्षितिज की धुँधली रेखा से सटी हुई कुछ हरियाली-सी नजर आयी। अपने

बड़े भाई को चुप देखकर फिर सुक्कन ने रोदनमिश्रित स्वर में कहा—"भैया, पानी पीऊँगा।" जग्गन ने ऊपर मन से घुड़ककर कहा—"जल्दी-जल्दी चल। पाजी कहीं का। मारूँगा एक तमाचा, जो बदमाशी की; देख सामने बाग है। वहीं पानी मिलेगा। जल्दी चल!" भड़कती हुई प्यास को सूखे कलेजे में दबाकर सुक्कन अपने भाई के पीछे-पीछे दौड़ा। उसके नन्हें-नन्हें दोनों पैर पक-से गये। गर्मी और प्यास के मारे चलने की ताब नहीं रह गयी। मुँह में थूक का नामोनिशान भी न था, जिससे कुछ शान्ति मिलती, कंठ को कुछ तरावट मिलती, हृदय को कुछ जीवन मिलता, फेफड़ों को कुछ आराम मिलता। जग्गन अपने छोटे भाई को धमकाकर पूरी तेजी से ले चला। वह चाहता था कि किसी तरह इस मैदान को वह पार कर जाय। पर, ऐसा जान पड़ता था कि जैसे-जैसे ये दोनों बच्चे आगे बढ़ते थे, वैसे ही वैसे सामने—दूर पर—नजर आनेवाली बारी पीछे की ओर खिसकती जाती हो। दुर्भाग्य का मैदान बड़ा लम्बा होता है। बड़े साहसी का काम है, जो इस अनन्त मैदान को अपने कदमों से नाप डाले। इतना साहस उन दोनों अभागे गरीब बच्चों में न था। विधाता का विधान किसी का मुँह नहीं जोहता, न पक्षपात ही करता है।

धूलि का एक बवंडर उठा। दोनों बच्चे मानो धूलि की आँधी में घिर गये। क्षणभर के लिये दोनों अकचकाकर खड़े हो गये। जग्गन ने अपने पीछे से एक पतली-सी कराहती हुई आवाज सुनी—"भैया, पानी...बड़ी प्यास।"

जग्गन का साहस छूट गया। उसने अपने थके हुए और कातर भाई को आगे कर लिया। चुमकारकर जग्गन ने कहा—"चल-चल, सामने बागीचा है। हम वहीं रुक जायँगे, पानी भी मिलेगा और एक कचौरी और दूँगा। वह देख सामने! अब

तो हम पहुँच ही गये—आध कोस और है—आध घंटा का रास्ता। जल्दी चल, नहीं तो कचौरी नहीं दूँगा।"

सुक्कन का चेहरा पीला पड़ गया था। वह थरथरा और हाँफ रहा था। खोन्चे को सिर पर रखने के कारण जग्गन का सिर और आधा शरीर एक प्रकार से छाया में था। इन्हें पच्छिम की ओर जाना था। जग्गन ने अपने छोटे भाई को इस बार आगे कर लिया। अपनी छाया में वह उसे ले चला; पर प्यास की ज्वाला संतोष के जल से शान्त हो जाय, यह बात असंभव थी। जग्गन चाहता था कि खोन्चा रखकर वह अपने भाई को गोद में उठा ले और दौड़ता हुआ बागीचे की शीतल छाया में पहुँच जाय। एक मील क्या, अभी उन्हें एक कोस चलना था। मा का भय खोन्चा रखने की अनुमति नहीं देता था। वह यह नहीं तय कर सका कि खोन्चा और अनुज—इन दोनों में कौन ग्राह्य और त्याज्य है। वह दोनों की रक्षा करना चाहता था। कुछ दूर चलने के बाद ठोकर खाकर औंधे मुँह सुक्कन गिरा। जग्गन खोन्चा रखकर भाई को उठाने चला। वह अर्धमूर्छित-सा पानी पानी करने लगा। इधर जग्गन का तालू भी सूख रहा था। तपे हुए तवे की तरह धूप चमक रही थी और चकाचौंध के मारे इधर-उधर देखना असम्भव था। सुक्कन जिस स्थान पर गिरा, वहाँ धुनी हुई रूई की तरह धूलि का ढेर था, जिसपर हवा के झकोरों का नर्तन हो रहा था।

बड़ी कठिनाई से अपने छोटे भाई को उठाकर जग्गन ने खोन्चा उठाने का प्रयत्न किया। धूप की कड़ी गर्मी लगने से पिघलकर खोन्चे में से तेल निकलना आरम्भ हो गया था। तेल से भींगा हुआ लकड़ी का भारी खोन्चा, जिसका रंग काला पड़ गया था, चिकना हो गया था। इधर जग्गन प्यास से और

अपने छोटे-से गरीब अनुज की व्याकुलता से घबड़ा उठा। हाथ से खोन्चा छूटकर गिर पड़ा और बची-बचाई कचौरियाँ और जलेबियाँ धूलि में बिखर गयीं। जग्गन चाहता तो यह था कि वह जल्दी-जल्दी अपने इस काल-पथ को पार कर जाय; पर अब उसे रुकना पड़ा। इधर सुक्कन खड़ा-खड़ा काँप रहा था और मुँह खोल-कर हाँफ रहा था। जग्गन जल्दी-जल्दी कचौरियों को चुनने लगा, गिनी हुई कचौरियाँ थीं। माँ से पीटे जाने का भय था। दूर-दूर छिटकर चली जानेवाली कचौरियों को सँभालकर एकत्र करना, साथ ही कपड़े से उन्हें पोंछते भी जाना एक भयानक काम था। सुक्कन ने बेकली के साथ ही बैठते हुए कहा—"भैया पानी... पानी...पानी ला दो...भैया।"

इस बार सुक्कन अचेत-सा हो गया। जग्गन ने अपने भाई के सूखे हुए मुँह को अपनी मैली धोती से पोंछकर चुमकारते हुए कहा—"चलो। बस, सामने तो बगीचा है। लो—एक कचौरी खाते चलो।"

जग्गन ने हाथ पकड़कर सुक्कन को उठाना चाहा; पर वह उठ न सका; बल्कि हाथ छोड़ते ही वहीं पर—तपी जमीन और धूलि पर ही—औंधे मुँह लेट गया। अत्यन्त क्षीण स्वर में सुक्कन बोला—"पा...नी...पा...नी..."

जेठ का दोपहर खेतों में दहाड़ रहा था, धूलि उड़ा रहा था, आग बरसा रहा था। जग्गन खोंचा रखकर हारा-सा बैठ गया। अपने नन्हें-से साथी को खींचकर उसने बैठाया; पर फिर वह लुढ़ककर गिर पड़ा। जग्गन ने देखा कि सुक्कन के होंठ काले पड़ गये हैं, हाथ-पैर ऐंठ गये हैं। सुक्कन की ठुड्डी पकड़कर उसने उसके पसीने से भरे हुए मुँह को ऊपर उठाया; पर सिर एक ओर लुढ़क गया। जग्गन रो उठा। उसने बड़े प्यार से पुकारा—

"सुकन, अरे सुकन !" एक अत्यन्त क्षीण स्वर सुकन के सूखे हुए होंठों के भीतर से निकला—"पानी...नी" ! बस !

जेठ ने धूलि की चादर से दोनों अभागे बच्चों को छिपा लिया।

× × ×

संध्या—

जेठ की संध्या तपस्विनी की तरह अपनी सजावटहीन शोभा के साथ हरिपुर के खेतों के उस पार धीरे-धीरे थकी हुई-सी उतरी। शेषनाग के फुफकार की तरह रह-रहकर गरम हवा के हलके-हलके झोंके आ जाते थे। चोंच खोले हुए पक्षी वृक्षों पर हक्का-बक्का-से दिखलायी पड़ने लगे। आँखें मलते हुए ग्रामवासी अपनी-अपनी राममड़ैया के दरवाजे से झाँकते हुए नजर आये। मटमैली धूप ऊँचे-ऊँचे वृक्षों की चोटियों पर, शव के चेहरे पर पड़नेवाले हलके प्रकाश की तरह चमकने लगी। गाँव की गलियां में दो-चार कुत्ते जीभ निकालकर हाँफते हुए भी दिखलायी पड़े।

गाँव के एक छोर पर छोटे-से कच्चे घर में एक दुर्बल रोगिणी स्त्री कराहती हुई अपनी टूटी-सी खाट पर से उतरी। इधर-उधर देखकर उसने धीरे-धीरे बड़बड़ाना आरम्भ किया—"अब तक नहीं...आये। कहाँ रह गये...दोनों ! उफ्, कितनी पीड़ा है...शरीर टूट रहा है...मौत दे दो...भगवान्। खूब... पीटूँगी...सुकना...बड़ा...बदमाश...है...पूरा। खेलाड़ी...हाँ, कहीं खेल...रहा...होगा। जगना भी...! मर जायँ ऐसे कपूत... मैं मर रही हूँ...वे...खेल...रहे होंगे,...क्या परवाह है।"

कराहती हुई उस रोगिणी ने चूल्हे में आग डालकर हाँड़ी चढ़ाई और भात बनाकर खुद दरवाजे के पास आकर बैठ गयी। कुछ देर बैठकर उसने फिर बोलना शुरू किया—"दोनों... भूखे...आवेंगे। सुकना...तो बड़ा...हो गया...है...पर जगना...

उफ हरे...हरे, कितना दर्द...है। शरीर में...हाँ, जगना...आते ही भात खोजेगा...। बना...कर...रख दिया है, पर अभी... आये...नहीं...कहाँ गये ! हे भगवान...उठा.. तो...इस... संसार...से नारायण !...अब सहा नहीं...जाता !"

संध्या ने रात का रूप धारण किया। गाँव के छप्परों में से धुँआ निकलने लगा। शिवराम पांडेय की चौपाल पर पर झाँझ ढोलक के साथ रामायण की कथा शुरू हो गयी। पेड़ों के इधर उधर चिमगादड़ उड़ने लगे। धूलि से भरे हुए आकाश में कुछ इने-गिने बड़े-बड़े तारे टिमटिमाने लगे।

रोगिणी स्त्री व्याकुल होकर किसी के भी पैरों की आहट मिलते ही दरवाजे पर आने लगी। उसके बच्चे आज लौटकर अभी तक नहीं आये। ऐसा तो कभी नहीं होता था। पर इसका जवाब कौन दे ? क्या ही अच्छा होता यदि हवा बोल सकती, ये तारे बोल सकते। यह पृथिवी बोल सकती और यदि यह आकाश भी बोल सकता। यदि विधाता ने इन्हें गूँगा बनाया था, तो दुर्भाग्य के कंठ में तो वाणी दे देते। यदि ऐसा होता, तो लाचार मानव जाति का कितना हित होता, कितना उपकार होता, कितनी भलाई होती ? जो हो, पर विधाता से बहस नहीं की जा सकती—लाचारी है।

होली की रात

जब तक जज फैसला पढ़ते रहे, कोर्ट में मौत का-सा सन्नाटा रहा ; मैं दम साधे चुपचाप अपने भाग्य का फैसला सुनता रहा। जज का एक-एक शब्द कानों की राह से भीतर घुसकर मेरे हृदय से टकरा जाता था। धीरे-धीरे जब लम्बे फैसले का अन्त होन

लगा, मैंने जरा-सा हिल-डुलकर अपने पैरों को अच्छी तरह जमा लिया—मानो किसी भारी दहशतनाक दृश्य देखने के लिये अपने आपको प्रस्तुत कर लिया हो ।

जज साहब ने पेज उलटा । कागज की खड़खड़ाहट के साथ ही मेरे जीवन का नया पृष्ठ सामने आ गया । मैंने अपने आपको अच्छी तरह सँभाल लिया—अब फैसले का अन्तिम पृष्ठ विचारक के सामने था । मेरे जीवन का नया अध्याय इसी अन्तिम पृष्ठ के बाद आरम्भ होनेवाला था । एक स्थान पर जज जरा-सा रुके—कलम उठायी । मैंने व्यग्रतापूर्वक सोचा, शायद विचार बदल गया हो, मेरे ऊपर दया आ गयी हो, सजा में कोई तब्दीली कर रहे हों । एक क्षण तक साँस रोके अपनी अपलक आँखों को जज की हिलती हुई कलम पर जमाया । कलम के कम्पन से शायद कुछ समझ सकूँ, क्या लिखा जा रहा है, कौन-से अक्षर या शब्द कागज पर उतर रहे हों । एक पल के बाद सारा रहस्य प्रकट होनेवाला था, सारी गुत्थियाँ सुलझ जानेवाली थीं, सारी उत्कंठाओं का अन्त होनेवाला था ; पर वह जीवन का सर्वश्रेष्ठ पल था, सबसे कीमती पल था ।

जज ने एक गम्भीर निश्वास को अपनी छाती में दबाकर एक बार मेरी ओर ताका, उसकी आँखें कह रही थीं—"अफसोस अभागे कैदी, सख्त अफसोस !"

अब जज ने कलम रखकर फिर फैसले पर नजर गड़ायी । मैंने अपनी बिखरी हुई ताकत को एकत्रित करके एक बार अपने आपको स्थिर करने का प्रयत्न किया । जज अब अपना मत पढ़ रहे थे । अन्त में उन्होंने धीमे स्वर में कहा—"फाँसी की सजा दी जाती है !"

बस, शेष हो गया । मैंने अपना सिर झुका लिया ।

शताधिक श्रोताओं के उच्छ्वासों से अदालत का कमरा भर गया। कुछ कानाफूसी भी शुरू हुई, और सैकड़ों आँखों ने एक साथ ही घूमकर मेरी ओर देखा, जिनमें लाचारीमिश्रित असफल सहानुभूति की प्रकाश-रेखा झलकती थी।

धीरे-धीरे मैं कटघरे से बाहर निकाला गया। ऊपर बरामदे से मैंने देखा—यह नीला आकाश, यह प्रकाशोज्ज्वल दिशाएँ, सब मिथ्या हैं। दूर पर स्कूल है—हरे-भरे मैदान में बच्चे घूम रहे हैं। सामने सड़क है—गाड़ियाँ दौड़ रही हैं। मेरे सामने से काले गाउन पहने वकील और फटा-मैला कोट पहने मुकदमेबाज बगल में कागजों का बण्डल दबाये, इधर-उधर दौड़ रहे हैं। उड़ती हुई नजरों से सभी मुझे देख लेते हैं। वे व्यस्त हैं, मेरी तरह फकत फाँसी पर झूल जाना ही भर काम तो उनका नहीं है। वे अपनी डिक्री, अपने डिसमिस की धुन में व्यग्र हैं—अभी उनका संसार आबाद है, उनकी कामनाएँ फल-फूल रही हैं। मैं केले का वृक्ष हूँ—फूला और फला, इसके बाद जड़ से काट डाला गया—अभी नहीं, पर काट डाला तो जाऊँगा ही, आज नहीं, तो दो मास के बाद ही सही।

—२—

पूस समाप्त हो गया, अपनी कँपकँपी पैदा करनेवाली सर्दी के साथ। माघ आया, कुछ-कुछ वासन्ती सौरभ का आभास लेकर; इसके बाद आया अबीर-गुलाल के कुहरे के बीच से मुस्कुराता हुआ फागुन। दो-ढाई मास अपील की आशा में सपने की तरह समाप्त हो गये—पता नहीं, ७०-७५ दिन कैसे कपूर की तरह उड़ गये। अपनी तंग कोठरी के एक गंदे कोने में पड़ा-पड़ा मैं बड़ी बेकली से अपने मरने की बाट जोहता रहा। प्रत्येक रात को यह खटका रहता कि बस यह अन्तिम रात है। पहरेदार

से पूछता तो वह पीठ फेरकर खड़ा हो जाता। जेलर आते, तो मेरी ओर देखने की अपेक्षा वे सीखचों को ही मन लगाकर देखा करते। मेरी हालत की जानकारी प्राप्त करने के बदले में मेरी बेड़ियों के विषय में ही वार्डर से पूछताछ करते। उन्हें अपने लोहे के धरोहर की जितनी चिन्ता थी, उतनी ईश्वर की उस बोलती हुई प्रतिमा की नहीं। समाज के इस धरोहर की फिक्र न करके जेलर अपनी फिक्र में व्यस्त आता और चला जाता। कभी-कभी-मैं कुछ पूछ बैठता, तो—'हाँ, हूँ' करके मानो अपना पिंड छुड़ाकर भाग खड़ा होता। मैं संशय के झूले पर बैठा कभी अथाह गर्त की ओर, तो कभी हरी-भरी कोमल समतल भूमि की ओर चला जाता। गरज यह कि न गर्त में ही गिरता और न समतल भूमि पर ही मेरे अभागे पाँव पड़ते। झूला एक पल में इधर और दूसरे ही पल में उधर चला जाता। उसकी पेंगें अनवरत चला करतीं—न इधर ठहरतीं और न उधर! एक अनवरत गति थी, जिसमें विराम नहीं।

एक रात को मैंने सीखचों के पास से आसमान की ओर झाँककर देखा—चाँदनी का मनोहर प्रकाश और चमकते हुए तारे! हवा का एक झोंका आया फूलों की महँक लेकर। मैंने छड़ों के पास मुँह सटाकर एक बार उस शीतल-मंद पवन को अपनी पलकों से टकरा जाने दिया—वार्डर ने गुनगुनाकर कुछ गाना शुरू किया। वह देहाती तर्ज की होली गा रहा था। कितना प्यारा राग है, कितना आलस्य है इस राग में! कभी आज के पहले इसकी मधुरिमा ने मेरे हृदय को इस रूप में स्पर्श नहीं किया था। मैं उनींदा-सा सीखचों से सटकर बैठ गया—वार्डर की गुनगुनाहट धीरे-धीरे शब्दों के रूप में बदलने लगी; पर खूब धीरे-धीरे। वह गा रहा था—"कैसे खेलूँ सखी होरी।"

कोई वियोगिनी या मानवती कह रही है—मैं अब कैसे होली खेलूँगी ? मेरा ध्यान अचानक उचटकर घर की ओर चला गया। स्त्री का देहावसान तो दो साल पहले ही हो चुका ; पर एक तीन साल की बच्ची थी, जो इस समय निश्चय ही अपना बूढ़ी दादी का आँचल ओढ़कर सो रही होगी। उस गोरी-गोरी कोमल बच्ची की मुँदी हुई पलकों पर दीपक का चंचल प्रकाश झिलमिला रहा होगा और निश्चय ही रेशम-जैसे काले-काले बाल उसके कोमल कपोलों पर बिखरे हुए होंगे। मेरी आँखों के सामने एक वेदना-भरी तसवीर-सी खिंच गयी। मैंने दोनों हाथों से अपना सिर कसकर दबा लिया। वार्डर गा रहा था।

मेरी कल्पना की झाँकी इसी आकाश में हाहाकार करती हुई दौड़ती, तो कभी पृथ्वी से टकराकर धूलि उड़ाती। धीरे-धीरे चाँद ऊपर उठा। मेरे सामने वार्ड नं० ६ था, जो दोमंजिला था। मैंने देखा, मानो उसकी मनहूस छत पर से, जिसपर दिन को अनगिनत कौए बैठे काँव-काँव किया करते थे, एक गोलाकार चन्द्रमुख झाँक रहा है। मेरी आँखें चन्द्रमा का सारा अमृत एक क्षण में पी लेने के लिये मानो अधीर हो उठीं। कुछ क्षण तक आत्म-विस्मृत-सा मैं देखता रहा। इस जीवन में कभी भी मुझे इतना मन लगाकर चन्द्र-दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ था। हजारों बार चाँद उठा और डूबा ; पर मैंने उस ओर ध्यान नहीं दिया। आज मानो अपनी समस्त मधुरिमा के साथ चाँद मेरे सामने आकर खड़ा हो गया। यदि चाँद एक विशाल चमकदार गोला है, तो मैंने प्रयत्न किया कि उसमें अपने घर की परिछाईं ढूँढूँ, जो यहाँ से महज दो मील के फासले पर ही तो है। देखा और खूब देखा ; पर उसके हृदय के काले पत्र के अतिरिक्त और कुछ भी दिखाई न पड़ा। वह कालापन, जो

आकाश की उज्ज्वलता के बीच में भी अपने पत्र को प्रकाशित कर रहा है, क्या यही चाँद है, यही उसकी शोभा है?—चाँद ऊपर उठा और मेरी आँखों से ओझल भी हो गया। एक ओर से चाभियों के झनकने और भारी जूतों की आवाज आयी। वार्डर अटेनशन में खड़ा हो गया। उसका गाना रुक गया। नायब जेलर आया। साथ में एक वार्डर था—हाथ में अन्धी-सी लालटेन और चाभियों का गुच्छा! नायब जेलर आकर मेरी कोठरी के दरवाजे पर रुका और आगे बढ़ गया। जाते समय उसने वार्डर को कुछ समझाया। मैं कुछ भी नहीं समझ सका; पर जब थोड़ी देर में एक वार्डर और आ गया, तो मुझे विश्वास हो गया कि पहरा बढ़ा दिया गया। क्या कारण है, परमात्मा जाने या नायब जेलर।

—३—

टन्! टन्!!

दो बार टन-टन् करके जेल का घण्टा रुका। मैं चुपचाप बैठा दिमाग के चरखे पर विचारों का सूत निकालता रहा। वार्डर बोला—"सोते क्यों नहीं?" मैं बोला—"नींद आवे तब न? क्यों भाई, आज ही होलिकादहन है न?" वार्डर बोला—"है क्यों नहीं, पर तुम्हें इससे मतलब? तुम तो दुनिया से कूच करने की तैयारी कर रहे हो भाई?" मैं सिहर उठा—ललाट को छूआ, तो उसे पसीने से तर पाया। चाक की तरह सामने का सारा दृश्य घूम गया। मैंने सहमते हुए पूछा—"क्यों भाई, क्या मैं...।" "नहीं जी"—वार्डर कुछ सकुचाता हुआ बोला—"मैं कह रहा था कि तुम्हें तो फाँसी की सजा हो गयी है न? वही बात...हाँ, तो तुमने क्या किया था?"

मैं झल्ला उठा—"किया क्या? एक अभागे की हत्या मुझसे

हो गयी, और क्या ? उसने घुला-घुलाकर मेरे परिवार भर का खून किया और मैंने अकेले उसी का खून किया। बस, इतनी-सी बात थी, और क्या ? मैं अगर खूनी हूँ, तो वह महाखूनी था ; मैं पिशाच हूँ, तो वह नर-पिशाच था—बस।" वार्डर सहमकर बोला—"वह आदमी कौन था—क्या तुम्हारा कोई...?" "नहीं जी, मेरा कौन था"—मैंने जरा जोश में भरकर उत्तर दिया—"एक...हाँ, एक आदमी था। हमारी ही तरह—ठीक तुम्हारे नायब जेलर की तरह मोटा—बड़ी तोंद-वाला !" "जाने दो—जो होना था, हो गया।" वार्डर मुरेठा उतारकर खुले सिर जाता हुआ बोला—"मोटा आदमी ! अक्सर मोटे आदमी भोंदू होते हैं—बेअक्ल ! मेरे गाँव के जमींदार थे खूब मोटे—उनकी अकल भी...।"

मैं ऊब उठा। हल्की-हल्की झपकी आ रही थी। प्यास भी लगी हुई थी ; पर पानी न था। वार्डर ने पूछने पर कहा—"भाई, सब्र करो। सुबह होने दो, दो घड़ी रात काट लो।" उसके स्वर से उदासी टपकती थी। मैं कम्बल लपेटकर सो गया। नींद नहीं आयी। उसने भी मेरा साथ छोड़ दिया। जन्म की साथिन विमुख हो गयी। चिन्ता की आँखमिचौनी से रूठकर वह चली गयी, बच्चों की दुनिया में, निंदियारानी बनकर ! उस रात को होलिकादहन था। गाँव की बात याद आयी। मित्रों की धमाचौकड़ी – कितनी बातें याद आयीं; लिख नहीं सकता। आज उन्हें क्यों याद करूँ ? कोई लाभ भी तो नहीं है। एक-एक करके स्मृतियाँ धक्कमधुक्की करती हुई मेरे दिमाग में भर गयीं। मैं उन्हें ठेल-ढकेलकर बाहर निकालने के लिये व्यग्र हो उठा। दस निकलतीं, तो पचास जुगून की तरह चारों ओर उड़ने लगतीं। जेल के कठोर अनुशासन का इन्हें भय नहीं, शंका नहीं ! जेल के

नियमों के नियामक को इस ओर ध्यान देना चाहिए था। उन्हें क्या मालूम कि बेचारे बन्दी को इनके चलते कितना कष्ट होता है!

उदासी और बेकली—क्या आपने कभी मौत की प्रतीक्षा में घड़ियाँ गुजारी हैं? शायद नहीं—भगवान न करे। कितनी पीड़ा होती है! मौत से भी मौत का भय भयावना होता है। अनिवार्य आपदा के लिए मन क्यों व्यग्र होता है? मैं सोच नहीं सकता—दिमाग पथरा गया है; जमकर पत्थर बन गया है। होली—? हाँ, होली फिर आयगी। मैं रहूँ या न रहूँ, होली का आना नहीं रुक सकता; यह विश्व-प्रपंच है, प्रपंच की सीमा नहीं होती। जो होना होगा, होकर ही रहेगा; पर मेरी आत्मा क्यों इतनी विकल रहती है? कल मेरी मा आयी थी, बच्ची आयी थी। दुबली-पतली बच्ची हक्की-बक्की-सी कभी लंबे-चौड़े वार्डर को देखती, तो कभी जेल की डरावनी भद्दी इमारत को। उसकी दादी ने कहा—"बाबूजी हैं; प्रणाम करो।" उसने अपने छोटे-छोटे पंजों को जोड़कर जरा-सा सिर झुका लिया और देखते-देखते मुलाकात का समय समाप्त हो गया। जेल का समय तो पहाड़ की तरह होता है; पर मुलाकात का समय होता है कपूर की तरह—तुरंत साफ! दो बातें हुईं—जरा-सा आँखें भरकर देखा, बस, पाँच मिनट—समाप्त! मा बिलखती चली गयी—हाय, मेरा लाल! ऊँह—इन बातों की ओर क्यों ध्यान देता हूँ? जितना चाहता हूँ, मन को दूसरी ओर हटाऊँ, उतना ही वह मुँहजोर घोड़े की तरह जोर करता है। जिधर मैं नहीं चाहता, वह उधर ही चला जाता है। दुनिया किसकी है? न मेरी मा की, न मेरी! टन्-टन्-टन्! मेरे जीवन को रौंदती हुई घड़ी की सूई आगे खिसक गयी।

अरे तीन—वार्डर ने जम्हाई लेकर कहा 'सीताराम!'

यह नाम इसके पहले भी मैंने अनेक बार सुना था। मेरे पिताजी सीताराम के परम भक्त थे। मैं मन-ही-मन उन्हें पौत्तलिक कहता था—उनकी अकल पर तरस खाता था। सोचता था—ईश्वर क्या बला है। वह मानव-कल्पित है। अपने कायर मन को तोष देने के लिए मानव ने ईश्वर और भूत की कल्पना की है—दोनों सगे भाई हैं, दोनों मानव-कल्पना के पुत्र हैं। पुस्तकों में पढ़ता था, 'ईश्वर नहीं है।' मुझे भी जन्म भर ईश्वर की जरूरत नहीं पड़ी—कभी नहीं पुकारा।

वार्डर के मुँह से 'सीताराम' सुनते ही न जाने क्यों, मेरा सारा शरीर काँप उठा। मुझे ऐसा लगा कि उसकी थकी हुई आवाज एक बार महाशून्य से टकराकर भुवन के अणु-अणु में रम गयी, प्रतिध्वनित हो उठी। मेरा अन्तर-बाहर 'सीताराम' के मधुर गुंजार से भर गया। आज मैं निराधार हूँ; जिस संसार में असंख्यासंख्य प्राणधारी जीव निवास करते हैं, वहाँ मेरे लिये मुट्ठी भर जगह नहीं! हिमालय-जैसे पहाड़ जहाँ हैं, वहाँ मेरे साढ़े तीन हाथ की काया के लिये स्थान नहीं! हिमालय का भार वसुधा वहन कर रही है; पर मुझ दफा ३०२ के अपराधी का भार सँभालना उसके लिये कठिन है! वह घबरा रही है, काँप रही है, मेरा भार फिर कौन सँभाले?

ऐसी अवस्था में—इस दशा में यह 'सीताराम' की ध्वनि कितनी प्यारी लगी, यह बतलाना कठिन है। सुना है, भगवान अशरण-शरण हैं, कृपालु हैं। मैं जीवन का वरदान नहीं, मौत का अभिशाप चाहता हूँ—मैं चाहता हूँ, मेरा मृत्यु-पथ सहज हो जाय। हृदय को बल मिले कि मैं मौत की विभीषिका को देखकर काँपू नहीं, डरूँ नहीं, हिम्मत न हारूँ। मैं कल्याण नहीं, विनाश चाहता हूँ। 'सीताराम'—मेरे अन्त:करण से सीताराम

की मधुर ध्वनि अनायास निकल गयी, तो वार्डर बोला—"भगवान का भजन करो। अब सुबह होने ही वाली है। क्यों जी, तुम सारी रात जागते ही रहे ?" मैंने कोई उत्तर नहीं दिया।

भोर की शीतल हवा सीखचों के भीतर आयी। कोयल बोल उठी—'कुहू'।

—४—

हल्की-सी तन्द्रा ने आकर मेरी आँखों को चूम लिया। एक मीठी झपकी आयी। दरवाजे के पास ही लेट गया, दो मिनट, चार मिनट, पता नहीं। किसी ने कहा—'सो गया ?'

वार्डर की आवाज कान में पड़ी—"हाँ, उठा दूँ ? अभी तो जाग रहा था।"

आवाज आयी—"समय हो गया। बेचारा बेकसूर था—अफसोस !"

मैं जाग गया, पर आँखें बन्द किये लेटा रहा—"क्या साहब आये ?" वार्डर ने कहा।

इतने में ही जूतों की आवाज पथरीली जमीन पर आयी। मैं उठ बैठा। देखा, चार-पाँच वार्डर खड़े हैं, दो राइफलें भी हैं। जेलर वगैरह भी हाजिर हैं। मैं समझ गया, अच्छी तरह समझ गया। बस, बिदाई का अवसर आ गया। सुख-दुख, पुण्य-पाप से अब छुटकारा मिलने की घड़ी आ गयी। मुझे ऐसा लगा कि मेरी रगों में खून जम गया है और सिर चकरा रहा है। एक खड़खड़ाहट के साथ ताले खुले और हथकड़ियों के साथ चार वार्डरों ने मेरे घर में प्रवेश किया। मैं खड़ा हो गया।

बस, इतना ही। अब लिख नहीं सकता। कलम का काम बन्द हो गया और जीवन-मृत्यु का संघर्ष थोड़ी देर बाद आरंभ होने को है। मृत्यु कहेगी, मैं बलवान और मैं कहूँगा धैर्यवान !

मित्रो ! मैं नहीं कह सकता, इसके बाद क्या होगा। होलिकादहन हो चुका होगा। उसकी आग ठण्ढी पड़ते ही मेरी चिता की आग धधक उठेगी। दोनों में कितना प्रभेद है—एक आनन्द की प्रतिमूर्ति है, तो दूसरी विनाश का प्रतीक है। अंतिम नमस्कार।

समाज का मान

गाँव के एक छोर पर उसका घर था और उस घर के आँगन में था एक नीम का वृक्ष। उस नीम के वृक्ष पर जब वसन्त की उदासी छा जाती, तो उसका मन भी उदास हो जाता और जब उसकी डालों पर लाल कोपलें बैसाख की हवा में दोपहरी को डोलने लगतीं, तो न जाने कौन उसके हृदय को चुटकियों से मसल देता, उसके मन को अलसा देता। सावन की लुनाई जब उस नीम को आकर चूम जाती और सन्ध्या का दिवाकर उसकी हरीतिमा में सुनहली विभा मिलाकर धूपछाँह की बहार ला देते, तो उसकी आँखों के सामने चित्रों का नर्तन होने लगता।

उसी नीम की ऊँची चोटी पर ऊषा अपनी उस लाल चोली को नित्य सूखने के लिये फैला दिया करती थी, जिसे रजनी ओस से सिक्त कर डालती थी। इसी तरह सन्ध्या प्रखर-भानु की ज्वाला मिटाने के लिए शान्त भाव से उसी नीम की कोमल पत्तियों पर लोटा करती थीं।

सभी ऋतुएँ उस नीम की प्रदक्षिणा करतीं और अलक्ष्य की ओर चली जातीं।

उसके लिये वह नीम का वृक्ष एक खिलौना था और चित्रों का अलबम। जब वह आँगन में खड़ी होकर आकाश की ओर देखती, तो दूर-दूर के वृक्षों की चोटियाँ उसे दिखलाई पड़तीं। वे

मानो स्वयं भी यह जानने के लिए सिर उठाकर देख रही हैं कि उस छोटे-से कच्चे घर में उत्सुकता और लालसाओं से घिरी हुई कौन-सी मूर्ति है ?

वह जब अनमनी हो जाती और घर के कभी समाप्त न होनेवाले कामों से अपने को बचा लेती, तो उसी नीम के नीचे आकर बैठती । माता के आँचल की तरह उस नीम की शीतल छाया उसके लिए आनन्ददायक थी और किसी देवता के वरदहस्त की तरह उसके माथे पर उसकी पत्तियाँ हिला करती थीं। उस स्थावर-महीरुह से उस सचल-हृदय का कुछ सम्बन्ध था। उस अचल-तरुवर की मूक-भाषा का ज्ञाता यदि उस घर में कोई था, तो केवल उस सामाजिक वंदिनी का कातर और पंगु मन।

उस गाँव को आम की बारी चारों ओर से घेरकर मंजर और फूलों की वर्षा करती थी।

उस गाँव की कटि में निरंजना नदी कलकल-छलछल करती हुई मेखला का अभाव मिटाती थी ।

उस गाँव के बाहर एक विशाल मंदिर था, जिसमें रात-दिन दर्शनार्थियों की भीड़ रहती थी तथा रात को रामायण की तान भी नित्य सुनाई पड़ती थी।

उस गाँव के बाहर थी एक देहाती पाठशाला, जहाँ गुरुजी की शाहंशाही तपती थी।

उस गाँव में प्रतिवर्ष होली और सावन की कजरी की बहार रहती थी। यह सब कुछ था, पर उसके लिए था केवल उसका दीवारों से घिरा हुआ कच्चा घर, कच्चा आँगन और नीम का एक मनोहर वृक्ष।

—२—

अगहन का महीना था। धान काटने का अवसर था। एक

प्रकार से सारा गाँव खाली हो गया था। सभी अपने-अपने खेतों पर काम लेने और काम करने चले गये थे। गाँव की चहल-पहल गाँव के खेतों पर चली गयी थी। मजदूरों के सिर पर भारी आफ़त थी,किसान व्यस्त थे। अन्नपूर्णा भारत की श्यामला भूमि पर पधारी थीं ; पर कितने दिनों के लिए ? सुदूर बंबई में सागर के नील वक्षःस्थल पर असंख्य जहाज माता के स्वागत के लिए भी तैयार थे। यह हमारी इस कहानी का विषय नहीं है। पाठक, क्षमा करें।

हाँ, अगहन का महीना था। धान काटने का अवसर था। एक प्रकार से सारा गाँव खाली हो गया था। वह अपने मन की उत्सुकता को नहीं रोक सकी। उसे ऐसा विश्वास हो गया कि इसके बाहर भी कुछ है और उस 'कुछ' से मेरा भी नाता है। वह धीरे-धीरे अपने अंतःपुर के सदा रुद्ध कपाट के पास जाकर खड़ी हो गयी और थोड़ा-सा खोलकर बाहर की ओर देखने लगी।

यह क्या ? इतनी शोभा ; इतना सौन्दर्य ! दूर-दूर तक फैला हुआ प्रान्तर और उसमें दोपहर के प्रखर भानु का जाज्वल्यमान प्रकाश, आह ! कितना जीवन है इस दृश्य में, कितनी मनोरमता है निसर्ग के इस रूप में, कितनी मादकता है इस श्यामलवन-श्रेणी में और कितना अपनापन है दिगन्तव्यापी नीलाम्बर की गंभीर नीलिमा में।

उसके प्राणों में आनन्दमयी तरंगें उठने लगीं; उसकी आँखों ने अपने अस्तित्व को सार्थक माना।

किसी ने पीछे से पुकारा। स्वर के एक ही झटके से उसका ध्यान भंग हुआ। उसकी आँखों का मन आँखों में ही केन्द्रित हो गया, हृदय धड़क उठा।

किसी ने पीछे से पुकारा—'बहू' !!! उसका सारा शरीर

काँप उठा पीपल के पत्ते की तरह, ओसकण की तरह और विधवा की हताश आँखों के आँसू की तरह।

वह फिर लौट गयी। फिर वही नीम का वृक्ष, वही मिट्टी की दीवारों में घिरा हुआ अंतःपुर, वही जनहीनता, वही नीरस काज-कर्म।

—३—

मा बोली—"बेटा, अब तो कुल में दाग लग गया।"

बेटे से तत्काल उत्तर देते न बना। वह शायद खड़ा-खड़ा पैर के अँगूठे से कच्ची जमीन को इसलिए खोद रहा था कि भूमि-माता में छिप जाने के लिये एक स्थान बना ले।

मा फिर बोली—"तुम्हारे पिता के मरे १० साल हो गये, पर गाँव में किसी ने आज तक मेरी आवाज नहीं सुनी।"

बेटा पलकहीन आँखों से घर के बाहर देख रहा था। बाहर आँगन में धान का स्तूप लगा हुआ था और गौरैया उस स्तूप पर फुदक रही थीं। कुएँ की जगत पर बैठी भूरे रंग की एक बिल्ली अकारण पूँछ उमेठ रही थी।

मा ने फिर कहा—"हाय! यदि तुम्हारे बाबूजी आज होते, तो घर में खून की नदी बह जाती। वे बड़े क्रोधी थे। एक बार उन्होंने ऊँची आवाज में बोलने के कारण मुझे इतना मारा था कि सात मास खाट पर पड़ी रही और मरकर बची।"

इस बार बेटे का कंठ फूटा। वह बोला—"क्या वह बाहर झाँक रही थी?"

माता ने कहा—"हाँ, वह बाहर झाँक रही थी—किवाड़ खोलकर बाहर झाँक रही थी। यह बात मैंने भाँप ली कि बाहर भी कोई अवश्य ही रहा होगा। हो सकता है, उसके मायके का ही कोई हो, पर········!"

मानो चारों ओर आग लग गयी है और उसकी ज्वाला में वह नवयुवक झुलस रहा हो। युवक का सारा शरीर काँप रहा था और आँखों तथा ललाट से ज्वाला निकल रही थी। नाक के रास्ते मानो हृदय की भयानक अग्नि की लपटें निकल रही हों। एक बार सारा संसार ज्वालामय हो गया, आँखों के आगे लाल और हरे गोले तैरने लगे। उसका कंठ सूख गया।

मा ने कहा—"बेटा, अच्छा हुआ जो तुम्हारे पिता का स्वर्ग-वास हो गया। यदि आज वे होते, तो उनको फाँसी की टेकटी पर लटकना होता। हे राम, मेरा अन्त कब होगा, प्रभो! अब देखा नहीं जाता, नाथ! बेटा, मुझे अपनी इस अवस्था पर बहुत शोक है, इच्छा करती है कि जहर खा लूँ। तुम आँख पसारकर यह लीला देखना। मुझसे देखी न जायगी।"

यह दूसरा तीर था। निशाने पर बैठा। शिकार घायल होकर गरजा। कच्चा घर काँप उठा। तड़पकर युवक बगल की कोठरी में घुस गया। भीतर से किवाड़ बन्द कर दिये गये।

—४—

आज तीन रातें बीत गयीं। उसके पास उसका हृदय नहीं है, आँखों में नींद नहीं है। कारण? उसका जीवन-धन न जाने कहाँ चला गया है, वह आज अकेली पूस की लम्बी रातों का सामना कर रही है। जब से वह इस घर में आयी है, तब से उसका सपना सदा उसकी आँखों के सामने रहा। वसन्त की कितनी ही रातें उसने कल्पना कर-करके काट दीं, ग्रीष्म की कितनी ही रातों को उसने बातों में ही बिता दिया, वर्षा की कितनी ही सजल-रजनी हँसी-खेल में उसने व्यतीत की थी; पर इन दो-चार सूनी रातों का काटना उसके लिये असाध्य था, दुःसाहस था। कई दिनों से उसका सौन्दर्य, उसका सोहाग,

उसका भरोसा, न जाने कहाँ जाकर छिप बैठ था। वह रह-रहकर अपने देवता पर खीझ रही थी। सोच रही थी, आने पर उस छलिया से नहीं बोलूँगी। लाख मनाने पर भी नहीं बोलने की, चाहे जो हो। कितने निष्ठुर हैं वे।

कोठरी के एक कोने में उनका कुरता उदास लटक रहा था, एक ओर उनका प्रिय सहचर बक्स रक्खा था, जो प्रवास में साथ रहता था। सभी चीजें थीं, केवल उनका दर्शन दुर्लभ था।

आधी रात बीत गयी। उसने किवाड़ खोलकर आकाश की ओर देखा। ताराओं के बीच में सप्तर्षि-मंडल निर्लज्ज की आँखों की तरह संसार की ओर देख रहा था। आँगन में उसका नीम, अन्धकार में लिप्त खड़ा था। प्रकृति शान्त थी। एक पत्ती भी नहीं हिलती थी।

वह धीरे-धीरे अपने घर से निकली और नीम के नीचे आकर खड़ी हो गयी। नीम की डालें किसी देवता के वरदान की तरह उसके मस्तक पर फैली थीं। वह चुपचाप नीम के नीचे जाकर खड़ी हो गयी। रात शान्त थी और प्रकृति भी शान्त थी। सारा गाँव स्वप्न-लोक में किसी सात-समुद्र, तेरह-नदी पार की परी का नृत्य देख रहा था और आकाश पर तारा-मंडल शान्त भाव से प्रकाश फैला रहा था।

अचानक बगल के घर का द्वार खुला और उसका जीवन-धन बाहर निकला। वह चकित हो गयी। उसकी गति में भयानक गम्भीरता थी। मुखमुद्रा कठोर थी। वह अपने प्राण-धन की ओर मुड़ी और मान करने की बात सोचने ही लगी कि बिजली-सी कौंधकर एक पतली छुरी उसके हृदय में घुस गयी। वह एक चीख मारकर अपने प्रिय नीम की शरण में गिर पड़ी।

हत्यारे ने दूसरा प्रहार किया। रक्त से लिपटकर वह लोटने लगी। बधिक का तीसरा प्रहार उसके गले पर हुआ।

चारों ओर शान्ति! घोर शान्ति! आकाश में तारा-मंडल के बीच में सात न्यायाधीशों की तरह सप्तर्षि शान्त भाव से बैठे थे और साक्षी की तरह नीम का वृक्ष चुपचाप खड़ा था।

अब समाज की आँखों में इस घर का मान रह गया।

आजादी

शहर से दूर—गाँवों और खेतों से दूर—दो पहाड़ों के बीच से एक नदी बहती थी। दोनों ओर दो ऊँचे-ऊँचे पहाड़ दैत्य की तरह खड़े थे और बीच से बल खाती हुई, इठलाती हुई, मानो सकुचाती और लजाती हुई-सी नदी बह रही थी। ऐसा जान पड़ता था कि दो महापराक्रमी विशालकाय राक्षस सरिता-सुन्दरी को हरण करने के लिये एक ही समय में एक दूसरे के सामने पहुँचकर, एक दूसरे को देखते ही ठिठककर खड़े हो गये हों, और लज्जावती सरिता-सुन्दरी सिकुड़ती दोनों के बीच से बच निकलने के लिये जल्दी-जल्दी आगे बढ़ रही हो।

बड़े-बड़े वृक्षों की कतारें मानों दोनों बलवानों के द्वंद्व युद्ध को देखने के लिये उत्सुकतापूर्वक सिर उठाये खड़ी हों। न जाने किस युग से यह दृश्य उपस्थित था, न जाने कब से दोनों प्रणयप्रार्थी एक दूसरे के सामने कमर कसे खड़े थे, और न जाने कब से तटिनी सुन्दरी छल-छल, कल-कल के सुमधुर स्वर में दोनों को ललचाती-फुसलाती, आशा-भरोसा देती हुई प्रतिक्षण आगे बढ़ रही थी। दो पुंजीभूत गद्यों के बीच में मानो कविता की धारा हो। स्थान निर्जन था। अपने मन से वसन्त के दिनों में पतझड़ होता था, फूल खिलते थे, दक्षिण-बयार आती थी और चारों

श्रोर मादकता, उदासी, श्रालस्य बिखेरकर चली जाती थी। सृष्टि के श्रादिकाल से यही क्रम जारी था। घटाएँ मोती बरसा जाती थीं, शरत्-विभा चाँदी न्योछावर कर जाती थी श्रौर ग्रीष्म उस निर्जन एकान्त तलहटी में पैशाचिक नृत्य कर जाता था, श्रग्नि-वर्षा कर जाता था, हाहाकार कर जाता था। यह क्रम भी श्रनादि काल से चला श्राता था।

इस निर्जन एकान्त घाटी में एक तोता श्राया श्रपनी नौजवान, चंचल, श्रल्हड़ सहचरी के साथ। दोनों ने कई दिनों तक इधर-उधर उड़कर श्रपना मनोरंजन किया, फल के वृक्षों पर झपट्टे मारे, ऊँची-ऊँची डालियों पर कोमल पत्तियों की स्निग्ध छाया में बैठकर दोपहर का स्वागत किया, नदी के शीतल जल में स्नान किया श्रौर तट पर की हरी-हरी दूब पर फुदककर नृत्य किया। जन-मानव-हीन वह स्थान उन्हें भा गया। एक बात जो उन्हें बुरी लगती थी, वह थी कौवे का घोंसला, जो ऊँचे वृक्ष की सबसे ऊँची डाली पर भद्दे तरीके से बना हुश्रा था श्रौर उसमें दो काले-काले घिनौने बच्चे दिनभर श्राकाश की श्रोर चोंच खोले या तो हाँफा करते थे या चिल्लाया करते थे। कौवे कीड़े-मकोड़े श्रौर मरे हुए पशुश्रों का मांस ला-लाकर बच्चों की खुली हुई चोंचों में डाला करते थे। सूगा श्रत्यन्त घृणापूर्वक इस दृश्य को देखता था श्रौर जब कभी सूगी कौवे के घोंसले की श्रोर उड़कर श्रपनी चंचल प्रकृति के कारण जाती थी, तब वह उसे बलपूर्वक रोकता था ; क्योंकि कौवों की क्रूर प्रकृति उसे बुरी लगती थी श्रौर वह सदा इन मनहूस पक्षियों से दूर रहना ही चाहता था। कभी-कभी काकद्वय नदी-तट पर जमे हुए सिवार में से कीड़े खोजते श्रौर कुलबुलाते हुए घिनौने कीड़ों को उठा-उठाकर बच्चों के मुँह में डाल श्राते। सूगा डाल पर बैठा-बैठा यह सब देखता

और सूगी को भी दिखलाता जाता। वह चाहता था कि सूगी के हृदय में कौवे के प्रति घृणा के भाव भर जायँ। कौवा से सूगी घिनाती थी, पर उनके बच्चों को प्यार करती थी, और सो भी मन-ही-मन और झिझक के साथ।

—२—

एक बार सूगे की आँख बचाकर फल का एक नन्हा-सा टुकड़ा सूगी ने कौवे के एक बच्चे को खिला दिया। सूगी निस्सन्तान थी ; पर उसके हृदय में मातृत्व की सुगबुगाहट थी। वह छोटे-छोटे बच्चों को मन-ही-मन प्यार करती थी। वह कभी-कभी गिलहरी के नन्हें-नन्हें बच्चों को, जो डाली से चिपके होते, फल का एकाध टुकड़ा खिला आती थी। वह अपने को प्यार करने से रोक नहीं सकती थी। सूगी स्नेह में डूबती-उतराती-सी गिलहरी के बच्चों के निकट जाती और उन्हें प्यार करने की चेष्टा करती। अपनी बड़ी-बड़ी भोली-भाली आँखों से देखते हुए गिलहरी के बच्चे पूँछ उठा-उठाकर 'चिड्-चिड्' करते। पीपल के जिस छोटे-से छेद में उनका घर था, वह भी सूगी के लिए कुछ कम प्यारा नहीं था। वह चाहती थी कि ऊँची डाली पर एक मनोनुकूल स्थान बनाकर वह भी सुखपूर्वक रहती। तोता इन बातों की ओर ध्यान नहीं देता था। हरी-भरी पत्तियों के झुरमुट में वह रहना पसन्द करता था। पत्तियों से छनकर जो कोमल—दिन का—प्रकाश भीतर आता था, उस प्रकाश में अपनी प्रेयसी के सुन्दर रूप, हरे चमकदार रंग, लाल मूँगे-सी चोंच को देखता-देखता तोता दोपहर को व्यतीत कर डालता था।

रात को जब चाँदनी निखरती और नदी का जल पारे की तरह चमकता हुआ प्रवाहित होता, तब दोनों एक डाली पर बैठकर शीतल हवा के झकोरों से ऊँघते और एक-दूसरे

से खूब सटकर बैठना ही परम सुख का मूल मन्त्र मानते।

चाँदनी में वन थिरक उठता था। वृक्षों की लम्बी-लम्बी छाया हरी-हरी दूब पर मानो आलस-विभोर होकर लेटी-सी दिखलाई पड़ती थी। वन के भीतर का धुँधला प्रकाश स्वप्न-जैसा मनोहर जान पड़ता था। रात को चमगादड़ इधर-उधर उड़ते। इन काले और कुत्सित जीवों से सूगी डरती थी। वह अपने प्यारे तोते से खूब सटकर बैठ जाती और सिर घुमाकर पीठ के रोओं में अपनी चोंच को डालकर सो जाती। सूगे के लिये यह परम सुख था।

कभी-कभी तोतों का झुण्ड आता और ऊधम मचाकर अनगिनत फल कुतरकर चला जाता। कोई-कोई रसिक तोता सूगी के पास भी आता। पहले वह ऊँची डाली पर बैठकर कुछ गाता; फिर इधर-उधर चंचलता दिखलाने की गरज से झपट्टे मारता और फिर धीरे-धीरे सूगी के सामने आकर गाने और मस्ती से टहलने लगता या गर्दन फुलाकर और पूरी ऊँचाई में बनकर खड़ा हो जाता। सूगी को यह सब उपद्रव असह्य होता और फिर तत्काल वह स्नेह-प्रदर्शन एक युद्ध के रूप में परिणत हो जाता। चंचु-प्रहार और झपट्टे शुरू हो जाते। वह तोता भी अपने अवारा प्रतिद्वंद्वी से लड़ पड़ता। पेड़ की डाली पर से दो-चार रोएँ हवा में उड़कर नदी के शीतल जल में जा गिरते और फिर शान्ति छा जाती। विजयी होकर तोता अपनी प्रेयसी के सामने जाता और नाचकर तथा गाकर उसके सामने अपने मन का आनन्द व्यक्त करता। तोती भी इधर-उधर फुदककर मानो कहती 'मैं तुमसे नहीं बोलूँगी। हटो यहाँ से।'

—३—

अब अवस्था ऐसी आ गयी कि तोते को अपने भावी बच्चों

के लिये एक घोंसला आबाद करना पड़ा। तोती अलसाई-सी रहती और तोते की ओर सलज्ज आँखों से देखती हुई धीरे से दूसरी डाली पर फुदककर चली जाती। तोता जब अपनी प्रेयसी के निकट जाता, तब वह मानो लजाती हुई कहती, तुम बड़े बदमाश हो, भागो मेरे सामने से।

बड़ी खोज-ढूँढ़ के बाद एक सुन्दर-सा स्थान उन्हें मिला। देवदारु की ऊँची चोटी पर एक छोटा-सा बिल था। प्रकृति ने उसे बनाया था। छोट-सा दरवाजा और भीतर काफी स्थान था। दोनों ने वहीं डेरा डाला। वहाँ से दूर-दूर का दृश्य दिखलाई पड़ता था—खूब हवा आती थी। वसन्त की शोभा रत्ती-रत्ती भर दिखलाई पड़ती थी। सामने नदी, उस पार का छोटा-सा मैदान, फिर पहाड़ और उसके ऊपर नीलाम्बर, जो वसन्त की धूलि से मटमैला-सा हो रहा था। दोनों ने उस 'कोटर' में कुछ तिनकों और कोमल पत्तियों का आसन लगाया। ठीक समय पर सूगी ने दो गोल-गोल अंडे दिये। तोते ने चकित होकर इस विचित्र पदार्थ को देखा। कुछ दिनों के बाद अंडों में से दो लोम-हीन पीले रंग के नन्हें-नन्हें बुलबुलाते हुए जीव प्रकट हुए। सूगी ने प्यारभरी आँखों से अपने बच्चों को देखा और फिर लज्जाभरी नजरों से अपने प्यारे तोते की ओर, जो हक्का-बक्का-सा यह सब देख रहा था। बच्चों ने अपने हिलते हुए सिर उठाकर चें-चें करना आरंभ किया—"अम्मा, भूख लगी है, अम्मा, खाऊँगा।"

दोनों का स्नेह जो रागात्मक रूप में दोनों के हृदय में प्रवाहित हो रहा था, हठात् वात्सल्य स्नेह के रूप में परिणत हो गया और दोनों ने बच्चों को प्यार से पालना आरंभ किया। धीरे-धीरे बच्चों के शरीर पर कलियों की तरह पीले-पीले रोएँ निकल आये। अवस्था के साथ ही उनका चें-चें करना भी बढ़ता गया। दिन में

कई-कई बार दोनों अपने कोटर में आते और दूर-दूर न जाकर इतनी दूरी से ही फल-संग्रह करते, जितनी दूर से वे अपनी कोटरवाली डाली को देख सकते थे। खास तौर से तो यही नियम बनाया गया कि बारी-बारी से दोनों तोते भोजन की खोज में जाते। बच्चे बढ़ रहे थे और कोटर से नीचे गिर जाने का खतरा अधिकाधिक निकट नजर आता जा रहा था। दोनों अपने कोटर में ही अपना मन छोड़कर इधर-उधर उड़ते। कहीं भी उनका मन नहीं लगता था। जल्दी-जल्दी इधर-उधर घूमकर फिर कोटर में पहुँच जाते, चाहे उनका जाना क्षण भर के लिये ही होता।

जब सूगी कोटर में लौटती, तब दोनों बच्चे चोंच खोलकर सिर हिलाते हुए अपनी मा के सम्मुख खिसकते हुए आ जाते। सूगी अपनी चोंच से उन्हें फल का मीठा रस खिलाती, जिसे वह टोंट में भरकर लाती थी!

सूगा आनन्द-मुग्ध दृष्टि से यह दृश्य देखता और फिर उड़कर एक डाली पर बैठ जाता तथा अपनी चोंच से अपनी लम्बी पूँछ को साफ करता और फिर रगड़कर चमकदार चोंच को अधिकाधिक चमकाता। उसका नन्हा-सा संसार, छोटी-सी प्यारी गृहस्थी कवि-कल्पना-सी प्यारी थी, पवित्र थी, कोमल थी।

—४—

शान्त वन में एक दिन कुछ हलचल-सी फैल गयी। तोते ने उड़ते हुए देखा कि दो-तीन मनुष्य पेड़ों पर चढ़ रहे हैं और कोटरों में हाथ डाल-डालकर कुछ खोज रहे हैं। कोटर-निवासी पक्षी आर्त्त स्वर में चीखते हुए इधर-उधर विकलतापूर्वक उड़ रहे हैं। वन की शान्ति में विषाद की हवा-सी डोल रही है। तोते ने देखा कि नदी के किनारे के एक वृक्ष पर से मैना के दो छोटे-छोटे बच्चे, जिनकी चोंचें अभी पीले रंग की ही थीं और शरीर मानो मांस

का छोटा-सा लोथड़ामात्र था, पकड़ लिये गये। इनकी मा वन में कीड़े पकड़ने गयी थी। चें-चें करते हुए बच्चे व्याध की झोली में चले गये। घोंसला उजाड़ हो गया। इस दृश्य ने तोते को दहला दिया। वह चाहता था कि अपने बच्चों को कहीं दूर देश ले जाय; पर बिना पंख के बच्चे उड़ने में असमर्थ थे और इधर सिर पर विपत्ति का यह वज्रपात होनेवाला था।

चिन्तित-सा, उदास-सा तोता घोंसले में लौटा और उसने देखा कि मा की पीठ पर सिर रक्खे उसके दोनों प्यारे बच्चे सो रहे हैं। वह फिर बाहर निकलकर इधर-उधर देखने लगा और फिर घोंसले की ओर लौटा। बड़ी विकलता से उसने दिन का अन्त किया, बड़ी चिन्ता से उसने सन्ध्या का स्वागत किया। सूगी को इस मनहूस घटना का कोई संवाद ज्ञात नहीं था! वह अपने बच्चों के साथ खेलने में तन्मय थी, आत्मविस्मृत थी। रात आयी और फिर ऊषा का फीका लाल प्रकाश पहाड़ों के पीछे फैल गया। पक्षियों की चहचहाहट से सारी घाटी एक बार जाग गयी। फूलों की महक लेकर शीतल-मन्द पवन ने तोते के घोंसले में प्रवेश किया। अपनी नन्हीं-नन्हीं चोंचों से जम्हाइयाँ लेकर बच्चे जागे और फिर दो-चार बार सिर हिलाकर, चें-चें कर अपनी मा से सटकर सो गये। तोता कोटर के द्वार पर बैठा चिन्ता के जाल बुनने लगा। वह कभी-कभी कोटर के भीतर के लुभावने दृश्य को सिर घुमाकर देख लेता था। सूगी अत्यन्त स्नेह से बच्चों के सिर और पंख को अपनी चोंच से सहलाती हुई मानो कह रही हो—
"उठो लाल, आँखों को खोलो। पानी लायी हूँ मुख धो लो।"

तोते के हृदय में आनन्द, करुणा, स्नेह आदि की तरंगे उठ रही थीं। बिना पंख के बच्चों को लेकर वह किधर जाय, यह सोच नहीं पाता था। लाचार आनेवाली आपदा का स्वागत करने

के लिए वह एक प्रकार से पत्थर का हृदय बनाकर बैठ गया। रक्षा का कोई उपाय ही नहीं था।

धीरे-धीरे दिन चढ़ा और उसने देखा कि बहेलियों का दल उस वृक्ष पर भी चढ़ने का प्रयत्न कर रहा है, जिसपर उस तोते का कोटर था। तोते की आँखों के नीचे अन्धकार छा गया। उसने भयसूचक आर्त्त नाद किया। सूगी घोंसले से बाहर निकल आयी। दोनों बच्चे भी चें-चें करते हुए कोटर के द्वार पर चले आये। बच्चों की आवाज सुनकर बहेलियों में से एक ने वृक्ष पर चढ़ना शुरू किया।

अब उपाय ? दोनों घबड़ाकर उड़े; पर फिर पेड़ का एक चक्कर काटकर अपने कोटर के पास की डाली पर हाँफते हुए बैठ गये। फिर चिल्लाते हुए उड़े और कोटर के ऊपर की डाली पर बैठकर चिल्लाने लगे। सूगी की दशा वर्णनातीत थी। इधर बहेलिया धीरे-धीरे ऊपर चढ़ता हुआ कोटर के निकट पहुँच गया। बच्चों की रक्षा का कोई उपाय न सोचकर सूगी झपटकर कोटर में घुस गयी—तोता चिल्लाता हुआ फिर उड़ा और क्षण भर में कोटर के द्वार के पास आकर चिपक गया। बहेलिया दो-चार हाथ नीचे था। वह सँभल-सँभलकर ऊपर चढ़ रहा था। सूगी कोटर से घबरायी-सी निकली और फिर झपट्टा मारकर कोटर में ही घुस गयी। तोता घबराया-सा इस डाली से उस डाली पर उड़-उड़कर बैठता था।

हाय ! कोई उपाय नहीं, कोई प्रतिकार नहीं। बच्चे चिल्लाते हुए कोटर से बाहर सिर निकालकर देख रहे थे और शायद सिर हिलाते हुए कह रहे थे—"भूख लगी है, भूख लगी है, अम्मा, खाऊँगा।"

बच्चों को देखकर बहेलिया प्रसन्न हुआ। जल्दी-जल्दी वह

ऊपर चढ़ने लगा। सूगी चिल्लाती हुई कोटर से निकली और झपटकर फिर भीतर घुसने का प्रयत्न करने लगी; पर बहेलिये ने उसे एक झपट्टे में पकड़ लिया। तोता विकल होकर पागल की तरह एक ओर भागा और क्षण भर में ही लौटा। वह न तो इस दृश्य को देख सकता था और न दूर ही रह सकता था। सूगी ने बहेलिये की उँगली को खूब जोर से काट खाया। क्षुब्ध बहेलिये ने अपनी मजबूत चुटकी से उसकी गर्दन मरोड़कर उसे नीचे गिरा दिया। फड़फड़ाती हुई सूगी नीचे घास पर गिरी और दो-चार बार पंख फड़फड़ाकर शान्त हो गयी। एक बहेलिये ने उठाकर उसे झोली में डाल दिया।

कोटर में बहेलिये ने हाथ डाला। भय से दोनों बच्चे सिकुड़ते हुए कोटर के अन्तिम छोर पर चले गये; पर बहेलिये का हाथ भी धीरे-धीरे उनकी ओर बढ़ रहा था। एक-एक क्षण में फन फैलाये हुए सर्प की तरह बहेलिये का हाथ बच्चों की ओर बढ़ रहा था और तोता चिल्लाता हुआ कभी अपने कोटर की ओर आता और कभी उस बहेलिये की ओर, जिसकी झोली में उसकी प्रियतमा की लाश पड़ी थी—उसके एकान्त शान्त जीवन की भग्नमूर्ति पड़ी थी, उसकी भोली-भाली कामना की कली रौंदी हुई पड़ी थी।

तोते ने देखा, बहेलिया उसके बच्चों को अपनी झोली में रखकर जल्दी-जल्दी पेड़ से उतर रहा है। झोली के भीतर से बच्चे बोल रहे हैं, मानो फल का रस खाने के लिये अपनी अम्मा को पुकार रहे हैं।

तोते के लिये वन सूना हो गया, कोटर श्मशान बन गया, वसन्त की सारी सुषमा पल भर में ही लुप्त हो गयी, जीवन की समस्त सरसता भाप बनकर उड़ गयी!

—५—

दिन भर जंगलों और मैदानों में तोते ने मन बहलाने का प्रयत्न किया। बार-बार वह घोंसले में आता, भीतर घुसता और अपनी मादा के दो-चार पंख, बच्चों के शरीर की महक, अंडों के दो-चार सफेद टुकड़ों को देखकर विकल हृदय से कोटर से बाहर हो जाता। उसका छोटा-सा हृदय विकल हो रहा था, मन में शान्ति नहीं थी।

तोते ने वह समस्त दिन इसी विकलता की आँधी में समाप्त किया। कुछ तो आनन्द से और कुछ सूनापन के कारण तोता अपने कोटर में जाता तो जरूर, पर वहाँ ठहरता नहीं था। एक बार वह सुबह की दुर्घटना को भूलकर और चोंच में पका हुआ एक मीठा फल लेकर अपने कोटर में गया। उसे इस बात का भ्रम था कि उसकी मादा अपने बच्चों के साथ होगी। उसने डाल पर बैठकर और पंजे से फल पकड़कर गाना शुरू किया। उसका गाना सुनकर मादा आती थी; पर उस दिन कोई नहीं आया। तोता कुछ क्षण तक तो भूला रहा, पर जब वह कोटर के पास गया, तब उसे प्रातःकाल की घटना की याद आ गयी। फिर क्या पंजे से फल गिराकर 'टें टें टें टें' करता हुआ तीर की तरह एक ओर भाग निकला। उसे ऐसा जान पड़ा कि बहेलिये का काला, घिनौना पंजा उसके पीछे बढ़ा चला आ रहा है। वह जितनी तेजी से भागता है, पंजा उसका पीछा करता है।

दिन जाते देर नहीं लगती। एक-दो दिन के बाद सूगे के मन का आतंक तो मिट गया; पर उसका हृदय अपनी मादा को तथा अपने छोटे-छोटे बच्चों को खोजता ही रहता था। वह जब-जब अपने कोटरवाले वृक्ष को देखता, विकल हो उठता; उसका मन रो उठता और उसे सर्वत्र सूना और हाहाकार-सा जान पड़ने

लगता। इधर उधर घूमकर वह अपने आहत मन को फुसलाता। कभी वह ऊँची-ऊँची पहाड़ियों पर उड़ता और कभी-कभी नदी के स्वच्छ जल पर उड़ता हुआ अपनी रंगीन छाया देखता और उसे अपनी मादा समझकर विकल हो उठता। एक सुन्दर तथा नौजवान मादा ने उसे आकर्षित भी किया। वह मादा पीपल की एक सूखी टहनी पर बैठी थी, मानो मरकतमणि का सुडौल शंख हो। तोता उसकी ओर आकर्षित हुआ। वह प्रथम दर्शन में ही गर्दन लम्बी करके और आँखों का रंग बदलकर चोंच मारने दौड़ी। उस नवीना सूगी की यह अदा तोते को भा गयी; पर उसकी रुचि फिर गृहस्थी बसाने की ओर बिलकुल नहीं थी। गर्मी पड़ रही थी। उदास मन से एक दिन तोता इधर-उधर उड़ता हुआ झोपड़ियों की एक छोटी-सी बस्ती की ओर गया। बड़े और आबाद गाँव से कुछ दूर पर यह छोटी-सी बस्ती थी। गन्दी गलियों में सूअर लोट रहे थे और मुर्गे गलीज में से कीड़े चुन-चुनकर खा रहे थे। झोपड़ियों में से भयानक बदबूदार धुआँ उठ रहा था। थका हुआ तोता सेमर के ठूँठ पर हाँफता हुआ बैठ गया। संध्या हो रही थी। नंग-धड़ंग बहुत-से बच्चे गलीज में सुखपूर्वक विश्राम करनेवाले सूअरों को खदेड़-खदेड़कर खोभर में बन्द करना चाहते थे।

तोते ने परिचित टें-टें की आवाज सुनी। वह चौंक उठा। इधर-उधर देखने लगा। फिर आवाज आयी। तोते का हृदय विकल हो उठा। यह उसके बच्चों की आवाज थी। उसने भी टें-टें करना आरम्भ किया, मानो कह रहा हो, 'कहाँ हो मेरे लाल! मेरे हृदयधन!!' पिता की आवाज पहचानकर बच्चों ने अधिक चिल्लाना आरंभ किया। सामने के झोंपड़े से आवाज आ रही थी।

तोते ने तत्काल समझ लिया कि आवाज किस ओर से आ

रही है। वह आत्मविस्मृत हो उठा। भविष्य की चिंता उसने अपने मन से निकाल दी और एक झपट्टे में वह झोपड़े पर जाकर बैठ गया। फिर छप्पर के किनारे पर आकर उसने देखा, पैरों में पतली डोरी बँधी हुई है और उसके दोनों बच्चे दीवार के सहारे लटकनेवाले एक बाँस पर बैठे एक दूसरे की चोंच से चोंच मिला रहे हैं और टें-टें करते हुए सिर हिला रहे हैं। तोते का गला भर आया और वह दूसरे क्षण दोनों बच्चों के बीच में जाकर बैठ गया। इसके बाद—इसके बाद उसने अनुभव किया कि उसपर मानो पूरा छप्पर गिर पड़ा हो और फिर वह अपने आपको एक मजबूत पंजे में जकड़ा हुआ पाकर चकित हो गया। यह वही पंजा था, जिसमें उसकी मादा का खून लग चुका था। इसी पंजे ने उसके सोने के संसार को मटियामेट कर दिया था, नरक बना दिया था।

× × ×

बहेलिया बोला—कैसा अच्छा सूगा है।

उसकी स्त्री बोली—बुड्ढा है। इसे कौन खरीदेगा?

बहेलिया फिर बोला—तो?

बहेलिये का बच्चा प्यार से बोला—"अम्मा, इसकी तरकारी बना दो।"

दूसरे क्षण गरीब तोता फड़फड़ाता हुआ फर्श पर गिरा। मरने के बाद भी उसकी आँखें अपने दोनों गुलाम बच्चों की ओर थीं, जो बाँस पर बंधे हुए सिर हिला-हिलाकर टें-टें टें-टें कर रहे थे। बैसाख की संध्या गरम साँस छोड़ रही थी। दिन का अन्त हो चुका था।

खोपड़ी

जर्मन कवि गेटे का एक चित्र मैंने देखा था—"गोद में एक बड़ी-सी खोपड़ी रखे महाकवि ध्यानस्थ-सा एकटक उसे देख रहा है। मुखमुद्रा अत्यन्त गम्भीर है तथा ललाट की रेखाएँ महाकवि के गम्भीर चिन्तन का रूप व्यक्त कर रही हैं।"

लोग चाहे मेरे इस दावे को न मानें, पर मैं तो चीख-चीख-कर कहूँगा कि मैं कवि-जाति का ही स्थलचर हूँ। मैं भी कलम लेकर कल्पनालोक की भाव-परियों के चित्र आँकता हूँ और किसी अनजान, बेदेखी, असम्भवा सुन्दरी पर आशिक हूँ और उसके वियोग में तारे गिन-गिनकर न जाने कितनी मधुमयी रातों को तिरस्कारपूर्वक समाप्त कर चुका हूँ। गेटे का वह 'पोश्चर' मुझे अजहद पसंद आया और एक मेहतर को ।।) देकर मैंने भी एक बड़ी-सी खोपड़ी मँगवायी। तत्काल मित्रों में यह बात फैल गयी कि मैं 'औघड़' सम्प्रदाय में हो गया हूँ और तान्त्रिक साधना करता हूँ। मैंने लोगों को बहुतेरा समझाया ; पर किसी ने मेरी सफाई पर कान ही नहीं दिया। मेरे जिस कमरे में खोपड़ी रखी थी, उस कमरे में मित्रों ने बैठना-उठना बन्द कर दिया और मेरे हाथ का स्पर्श किया हुआ पान खाना भी मित्रों को असह्य हो गया ; क्योंकि अशुद्ध खोपड़ी को अपने लिखने-पढ़नेवाली मेज पर स्थान देने के कारण मैं एक प्रकार से अशुद्ध रहने लगा था। लल्ला की माँ ने भी भयानक विरोध किया ; पर अपने को तो जर्मन-कवि गेटे बनना था—लोकापवाद की परवा करने से काम कैसे चलता ! मित्रों में मैं 'ओझा' जी, औघड़बाबा, तान्त्रिक महाराज के नाम से विख्यात होने लगा। जर्मन-कवि गेटे का चित्र दिखला-दिखलाकर मैं थक गया ; पर परिणाम कुछ

न निकला—मेरे खिलाफ जो वायुमंडल बन चुका था, वह निखार पर था ; पर मैं भी अपने हठ पर अड़ा रहा।

कुछ दिन इसी तरह बीते और मैं नित्य रात को उस खोपड़ी को गोद में लेकर बैठता और इच्छा न रहते हुए भी मानव-जीवन की चंचलता, तुच्छता पर सोचने का प्रयत्न करता। ऐसे विषय पर अधिक समय तक सोचने की आदत न रहने के कारण मन क्षण-क्षण पर उचट जाता और मानव-जीवन की बात सोचते-सोचते अपने मित्र नारायण बाबू की जापानी कुतिया की बातें सोचने लगता और फिर न जाने कैसे मन माधव बाबू के मकान के चारों ओर चक्कर लगाने लगता। सचेत होकर मैं फिर अपने पथभ्रष्ट मन को केन्द्रित करता ; पर तत्काल वह मुझे धोखा देकर दूसरी ओर निकल भागता। यही हाल कुछ दिनों तक रहा।

—२—

गर्मी की दोपहरी थी। घर में सबसे अधिक ठण्ढा कमरा वही है, जहाँ मैं लिखा-पढ़ा करता हूँ। कुर्सी हटाकर, फर्श पर एक शीतलपाटी बिछाकर, दोपहर को सोने की व्यवस्था की जाती है। सिरहाने की तरफ मेज पर खोपड़ी पड़ी हुई थी। कमरे का द्वार बन्द करके मैं सो गया। बाहर लू चल रही थी और तड़पती हुई बिजली की तरह धूप चमक रही थी। बच्चे भी सो गये और अखबार पढ़ता-पढ़ता मैं भी सो गया, तो आँखे बन्द होते ही मुझे ऐसा लगा कि मेज पर से कछुआ की तरह रेंगती हुई खोपड़ी नीचे उतर रही है। मैं डरा अवश्य, पर कण्ठ से आवाज नहीं निकली—हाथ-पैर अचल-से हो गये और मैं मानो जीवित शव की तरह पड़ा रह गया !

धीरे-धीरे रेंगती हुई खोपड़ी मेज पर से नीचे उतरी और

फिर मेरे पास आकर रुक गयी। मैंने देखा और बहुत ही आश्चर्य के साथ देखा कि खोपड़ी के ऊपर मांस चढ़ रहा है और फिर उस पर चमड़ी। कोटरों में दो आँखें पैदा हो गयीं और आँखों के ऊपर दो चौड़ी-चौड़ी भूरी रेखाएँ। एक सुन्दर-सी नाक भी प्रकट हो गयी और नाक के नीचे लाल और पतले-पतले दो होठ मुस्कराने लगे। गरज यह कि पूरी खोपड़ी एक सुन्दर नवयुवक के कटे हुए सिर के रूप में परिणत हो गयी। मैं पड़ा-पड़ा यह सब देखता रहा। अब वह सिर उछला, फिर कुर्सी पर पहुँच-कर मेरी ओर घूरने लगा। मैं मन ही मन हनुमानचालीसा का पाठ कर रहा था और दुर्गानाम भी जपने लगा। मैंने प्रयत्न किया कि आँखें बन्द कर लूँ; पर बन्द आँखों में भीतर से ही यह सब मुझे सूझ रहा था। अब क्या करता ? ऐसी लाचारी !

मानो मेरी विकलता भाँपकर वह नरमुण्ड बोला—"क्यों जी, घबड़ा गये ? डरने की कोई बात नहीं है। जब मैं जीवित था, तो तुम क्या, सारा प्रान्त मुझ से थर-थर काँपता था; पर आज तो मैं एक खोपड़ीमात्र हूँ। मेरी इच्छा यह है कि मैं तुम्हें अपनी जीवनगाथा सुनाऊँ। तुम कवि पूरे पतित होते हो और नमक-हराम भी। जिस देश का अन्न खाते हो, जल पीते हो, उसकी ओर ध्यान न देकर सातवें आसमान के परलोक के सपने देखा करते हो। यदि कहीं मेरे हाथ पैदा हो जायँ, तो मैं तुम्हारा गला दबा दूँ—कृतघ्न कहीं का !"

इतना बोलकर मुण्ड ने इतने जोर से गुर्राकर मेरी ओर देखा कि यदि मैं सचेत रहता, तो वहीं पर मूर्च्छित होकर गिर पड़ता; पर मैं अर्द्ध चेतनावस्था में पड़ा था। न तो कण्ठ खुलता और न हाथ-पाँव हिलते थे—बस, जीवित था, जी रहा था और यह सब पड़ा-पड़ा देख रहा था।

एक बार इधर-उधर देखकर वह नरमुण्ड बोला—"अहा! कितना अच्छा कमरा है! खस की टट्टियाँ लगी हुई हैं। जेठ की लू शीतल हवा बनकर—सोंधी महक बनकर आती है; पर तुम्हें याद है, तुमने कितनों की गाढ़ी कमाई के पैसों पर यह मौज लूटना आरम्भ किया है?"

किसी दिन तुम भी मेरी ही तरह किसी गेटे कवि की मेज की शोभा बढ़ाओगे। हाँ, यह भी असम्भव सौभाग्य है। जहाँ पर मेरी लाश चुपके-से गाड़ दी गयी थी, वहीं पर एक धनी महाजन की लाश भी गड़ी हुई थी। उसकी बड़ी-बड़ी हड्डियाँ बड़ी ही डरावनी थीं। छोटी-सी तिकोनी खोपड़ी और रीढ़ की झुकी हुई हड्डियाँ—यही विशेषता थी। डकैतों ने सेठजी का खून करके उनकी लाश को छिपा दिया था। आज भी उसके अस्थि-पंजरों में से रुपये की दुर्गन्ध आती है। चाँदी और सोने में भी एक खास तरह की गन्ध होती है। मैं नित्य सोचता हूँ कि वह सेठ रुपयामय हो गया था, जैसे तुम कल्पनामय हो गये हो।

एक दिन मैंने सुना—सच कहता हूँ, ऊपर पेड़ की छाया में बैठा कोई रुपये गिन रहा है। टन्-टन् आवाज गूँज रही है। तुम्हें चाहे विश्वास न भी हो, पर मैं सच कहता हूँ कि सेठजी का कंकाल हिलने लगा। उसके दोनों हाथ मानो आगे को बढ़ने लगे और पंजर में जहाँ पर हृदय था, वहाँ पर कुछ धड़कन-सी मालूम होने लगी। जब तक बाहर रुपयों की टनटनाहट होती रही, मिट्टी के भीतर सेठजी का कङ्काल थरथराता रहा और भूमि का हृदय फाड़कर एक बार चीत्कार करता हुआ रुपयों पर टूट पड़ने के लिये मानो आकुल-व्याकुल होता रहा। हजारों मन मिट्टी वह हटा नहीं सका और लाचार उसे मन मारकर रह जाना पड़ा। ऐसा है वह सेठ का कङ्काल—समझा?

हाँ, तुम मेरे सम्बन्ध में क्या सोचते हो—तुम कवि हो, तो मैं भी आज से चार-पाँच साल पहले एक बेकार बी० ए० था। यह मत समझो कि मैं किसी अपढ़, गँवार की खोपड़ी हूँ। मरते समय भी मेरा मन मेज-कुर्सी पर ऐसा लगा हुआ था कि आज मुझे मेज और कुर्सी मिल ही गयी।

तुम कविताएँ लिखते हो—अच्छी बात है; पर कल्पना कहाँ से लाते हो? सातवें आसमान के परलोक या आसपास फैले नरक से? तुम कहोगे—हम कवि हैं, हम फूल के पराग का आसन बनावेंगे, सुरभि-मदिरा पान करेंगे और चन्द्रलोक की विभासुन्दरी के साथ कल्पना-उद्यान में रास रचावेंगे; पर मैं कहता हूँ कि सत्य को छोड़कर मिथ्या का आश्रय ग्रहण करने-वाला सदा पतन की ओर अग्रसर होता रहता है। मिथ्या तो नाशवान है, किन्तु ऐसे पतित का सत्य भी नष्ट हो जाता है।

सुनो, मैं तुम्हें अपनी कथा सुनाता हूँ। समय का ध्यान मत करो, अभी दोपहरी है—तुम अपने पेट के अन्न को हजम करने के लिये कम-से-कम ५ घण्टे दिन को तो सोते ही हो, २ घण्टे और तुम्हें सोना चाहिए। मैं अपनी कहानी एक घण्टे में समाप्त करता हूँ—ध्यान से सुनना, नहीं तो गला दाब दूँगा।

नरमुण्ड ने कहना आरम्भ किया—"जवानी तूफान बनकर आती है, यह तो शायद तुम भी जानते होगे; पर कवि होने के कारण तुम जवान हुए ही कहाँ? लड़कपन के बाद बुढ़ापा शुरू हुआ। विरह-निवेदन और आह-ऊह में जवानी के दिन समाप्त हो गये; पर जब मैं कालेज से बी० ए० होकर अपने गाँव में आया, तो मुझे ऐसा लगा कि जवानी और मौत, दोनों साथ-साथ मेरे घर आयी हैं। कालेज में मेरा सम्बन्ध कुछ ऐसे विद्यार्थियों से था, जो गरीब थे और गरीबी को बड़ी ही घृणा

की दृष्टि से देखते हुए उसके मूल कारणों पर बहस किया करते थे। मैं भी ऐसे दल के साथ रहता था और बहस में भी काफी उत्साह दिखाता था। मैं नहीं समझता था कि हमारे शब्द शून्य में पहुँचकर एक-एक वज्र बन जाते हैं और हमारे सिरों पर गिरने के लिये मँड़राते रहते हैं। जोश की अवस्था में आगे-पीछे का ध्यान नहीं रहता।

सुना है कि मानव जाति का सर्वश्रेष्ठ आविष्कार है लकड़ी से आग का निकालना ; पर मैं तो समझता हूँ कि यह बात दूसरे नम्बर की है। सबसे पहला आविष्कार मनुष्य को फिर से पशु बना डालना भले ही न हो, पर है यह सर्वश्रेष्ठ। मेरे साथियों में कुछ सर्वश्रेष्ठ मनुष्य बनना चाहते थे, पर बन गये सर्वश्रेष्ठ पशु, और उन्होंने अपने पैने सींगों से हम कई साथियों को घायल कर दिया। कई तो इतने आहत हो गये कि सदा के लिये चल बसे और अकेला मैं ही ऐसा एक ठोस मनुष्य था, जो ३-४ साल तक जीवित रहा।

सुनो, तुम रहस्यवादी कवि हो, इसीलिये मैं रहस्यवाद में ही बातें करना चाहता हूँ। बादाम कितना स्वास्थ्यप्रद और सुस्वादु मेवा है, पर उसपर कितना मोटा और कठोर छिलका होता है! इसी तरह संसार में जितनी अच्छी और स्वास्थ्यवर्द्धक बातें होती हैं, उनपर रहस्यवाद का मोटा छिलका चढ़ा होता है। किसी सुन्दरी के मन को ही देखो। सुना है, वह कठोर रहस्य-जाल के भीतर छिपा होता है। यह भी एक प्रकार से रहस्यवाद ही है—समझा तुमने।"

इतना बोलकर नरमुण्ड रुक गया। भय छोड़कर मैं उसकी बातों में डूबने-उतराने लगा। बोलते-बोलते उसकी आँखें चमक उठतीं और चेहरा तमतमा उठता। उसके नथुने फूल उठे।

कुछ क्षण ठहरकर वह फिर अपनी गाथा का छकड़ा खींचने लगा—"हाँ, कविजी ! तो जब मैं कालेज के होस्टल से निकला, तो सीधे 'स्टेट्समैन' के उन कालमों को आँखों से नापने लगा जिनपर 'वाण्टेड' छपा रहता है। पेट की चिन्ता थी और परिवार का भार भी सिर पर था—पिता, माता, स्त्री, दो बच्चे और केवल ३०-४० बीघे खेत, जिनपर ६ हजार कर्ज !

कालेज में नरश्रेष्ठ बनने के जितने मंसूबे बाँधे गये थे, वे सब ढीले जँचे और मैंने यह मान लिया कि आदर्शवादी बनकर संसार में केवल धनी व्यक्ति ही सुखपूर्वक जी सकता है। यथार्थवाद ही श्रेष्ठवाद है : पर अपने मन की होती तो नहीं। एक दिन अचानक थाने से बुलाहट आयी। उन दिनों मैं अपने एक निकट संबंधी वकील के यहाँ लड़के को पढ़ाने का काम करता था। २०) मासिक और दोनों जून पकी-पकायी रोटियाँ। मस्ती का जीवन था। २०) घर भेज देता था और अपने राम इधर-उधर तिकड़म से काम चलाते थे। अचानक थाने का निमंत्रण पाकर मैं तो स्तम्भित रह गया। थाने पर का अयाचित तथा अप्रत्याशित बुलौआ पाकर शायद ही कोई प्रसन्न हो सकता है। मैंने वकील साहब से पूछा तो उन्होंने अपने ऐनक को ललाट पर चढ़ाकर विस्मय-विस्फारित आँखों से मेरी ओर देखा। उनकी विस्मय-मुद्रा से मेरा हृदय काँप उठा। कुछ सोचकर आप बोले—"देखो, क्या होता है। क्योंजी, तुम तो बड़े सीधे-सादे नजर आते थे पर...।'

मैंने मन-ही-मन झल्लाकर कहा—"तो आप क्या समझते हैं, मैं कोई चोर-डाकू हूँ ?"

"नहीं, मैं कोई दूसरी बात सोच रहा—था"—दुर्गन्धपूर्ण जम्हाई लेकर वकील साहब बोले और फिर एक मोटी-सी पुस्तक उठाकर पढ़ने लगे।

—४—

"तुमने नरक देखा है जी ?" वह नरमुण्ड घृणापूर्ण मुँह बनाकर बोला—"नहीं देखा है। मरकर देखोगे ; खैर, मैंने थाने पर पहुँचकर साक्षात् नरक देखा। आतंक का राज्य था। दारोगा साहब मूँछों पर ताव दे रहे थे और कई अपराधी फर्श पर खीस काढ़े बैठे थे। इशारा पाकर एक कुर्सी पर बैठ गया। मुझसे तत्काल प्रश्न किया गया—"क्यों जनाब, हरिहरपुर में जो डकैती हुई है, उसके विषय में आप क्या जानते हैं ? हाँ, सचसच कहियेगा।" इतना बोलकर दारोगा साहब एक फाइल उलटने लगे और सीटी में कोई गाना गाने लगे। मैं चकित-सा बैठा रहा। फाइल से एक कागज निकालकर फिर उन्होंने पढ़ना आरम्भ किया—"बयान शिवमंगलदास, बी० ए०—मैं रामकिशोर शर्मा के साथ दो बार हरिहरपुर गया था और गाँव की सड़कों तथा गलियों का एक नक्शा रामकिशोर ने तैयार किया था, जो नक्शा डकैती के समय काम आया—वगैरह वगैरह।"

मैंने अदब के साथ निवेदन किया—"हुजूर, शिवमंगल मेरा सहपाठी अवश्य था ; पर अब दो साल से मैंने उसे देखा भी नहीं, और न मैं हरिहरपुर को ही जानता हूँ कि वह दुनिया के किस हिस्से में है।"

दारोगाजी ने पुकारा—"जंगबहादुर सिंह।"

एक छ फीट का जवान हाजिर हुआ। आज्ञा हुई—बाबू साहब को कोठा में बन्द करो। रात को मेरे सामने पेश करना। जल्दी करो। जंगबहादुर सिंह ने लपककर मेरी बाँह पकड़ी और जब तक मैं कुछ बोलूँ, मुझे एक धक्का देकर कमरे के बाहर पहुँचा दिया। मैंने अपने आपको एक ऐसी कोठरी के भीतर बन्द पाया

जिसमें पेशाब और पाखाने की दुर्गन्ध भरी हुई थी। कई अभागे वहाँ बैठे सिसक रहे थे।

× × ×

आगे की बात नहीं सुनाऊँगा ; समय नहीं है। कई बार खुले कोर्ट और जेल में मैं आया-गया और इसके बाद एक दिन अचानक मुझे जेल के फाटक से निकाल दिया गया। मैं निरपराध प्रमाणित हुआ। वकील साहब ने एक दिन के लिये भी मुकदमे भर में दर्शन नहीं दिये। हाँ, उन्होंने इतनी सज्जनता की कि मेरे गरीब पिता को इसकी सूचना दे दी थी। खुली हवा में पहुँकर मैंने अपने आपको अन्धकार में पाया। नौकरी की आशा समाप्त हो गयी थी और किसी भले आदमी के सामने जाकर खड़े होने योग्य भी मैं नहीं रह गया था। पेट का सवाल ऊपर से था, जो मेरी बुद्धि को चकरा रहा था।

कुछ दिनों के बाद पिताजी का भी अन्त हो गया और मनस्ताप मिटाने के लिये मैं शराब पीने लग गया। लुक-छिप-कर दो घूँट पी लेता था। पिताजी के मरने के बाद तो खुले आम मैंने पीना आरम्भ किया। मेरी साध्वी पत्नी मुझे बहुतेरा समझाती ; पर मैं तो अपने मन का मालिक बन चुका था! किसी की क्यों सुनने लगा!

शराब मेरे मुँह लग गयी थी और मैं सदा यही चाहता था कि शराबखाने में ही बैठा रहूँ। खेतों का काम भी तहस-नहस हो गया। कर्ज से जीवन-निर्वाह होने लगा। गाँव भर में मेरे विरुद्ध कानाफूसी शुरू हो गयी, पर कोई कुछ कहता नहीं था। मैं जाति में श्रेष्ठ था ; पर कर्म के लिहाज से मैं अपने आपको क्या कहूँ, समझ में नहीं आता।

स्त्री का एक-एक गहना, घर का प्रत्येक बर्तन बेचकर मैंने

उड़ा दिया। जब उपवास की बारी आयी, तो बिलखते हुए बच्चों का सूखा हुआ मुख देखकर मेरा हृदय काँप उठा। स्त्री साकार करुणा की मूर्ति बन गयी थी। मेरा हृदय इतना दुर्बल हो चुका था कि मैं अपने बच्चों की ओर आँखें भरकर देखते हुए ही सहमता था। मुझे अब तक याद नहीं है कि मैंने कभी भी अपने किसी बच्चे को प्यार से चूमा भी हो। मैं कभी-कभी उनकी ओर उठती नजरों से देख भर लेता था। वे जब 'बाबूजी', 'बाबूजी' कहकर मेरे निकट आते, तो मैं उन्हें बुरी तरह गुर्राकर भगा देता। इससे तुम यह मत सोचना कि मेरे हृदय में पितृस्नेह का अभाव था ; पर मेरे हृदय में इतना साहस नहीं था कि मैं अपने अन्न के अभाव से रोगी और दुर्बल बने हुए बच्चों को आँखें भरकर देखता। मेरा हृदय इतना निर्बल हो गया था। हाय, कहा नहीं जाता—मेरे सहृदय कवि ! यद्यपि इस समय मेरे पास कलेजा नहीं है, पर मुझे ऐसा जान पड़ता है कि कलेजा फटा जा रहा है। पर जब तुम्हें इतना कष्ट दिया है, तो अपनी पाप-कहानी सुनाऊँगा अवश्य। इससे मुझे शान्ति मिलेगी, मित्र !

पिछली बातों को याद करने में न जाने कौन-सा सुख प्राप्त होता है। हाँ, तो भाई, सावन आया। ताल-तलैया में नवजीवन का संचार हुआ। आकाश काली-काली पगली घटाओं से भर गया। घटा-पर-घटा लदी हुई हवा से महाशून्य में घूमने लगी और हरी-हरी पत्तियों पर घटा की धुँधली छाया स्वप्न-जाल बनाती हुई पृथ्वी को स्वर्ग बनाने लगी। एक रात को जब सावन पूरे जोश में झमाझम बरस रहा था, मेरा बड़ा बच्चा अचानक उठा और कै करने लगा। मैंने उसे डाँटकर सुलाना चाहा ; पर मुँह से मानो पहाड़ी नाला बह रहा था। मैं भी घबरा उठा। मेरी स्त्री के तो मानो हाथ के तोते उड़ गये। कै के

बाद दस्त की बारी आयी। मैं घबराकर सोचने लगा कि अब क्या करना चाहिए। यद्यपि डाक्टर गाँव में ही रहता था; पर फीस कहाँ से पाऊँ? मेरे पास कुछ चूरन वगैरह था, दिया; पर कोई विशेष लाभ नहीं हुआ। रामराम करके प्रातःकाल का प्रकाश घटाओं के फाँस से निकलकर धरनी को चूमने लगा। मैं दौड़ा हुआ डाक्टर के यहाँ गया, तो पता चला कि वह शहर की ओर गया है। लाचार हाथ मलता हुआ अपने महाजन सुखदेव साहब के द्वार पर, जो जाति का तेली था, पहुँचा। वह अपने बैलों को खरीभुस खिला रहा था। मैंने जाते ही उसके पैर पकड़ लिये और अपनी विपदा की कहानी सुनायी। अपने पीले दाँतों को निपोड़कर तेली बोला—"अभी मेरे पिछले रुपये तुम्हारे यहाँ पड़े हैं। तुम किस मुँह से कर्ज माँगने आये हो? मैं अदालत जानेवाला हूँ।" मैंने कहा—"दादा, मेरा बच्चा मुसीबत में फँस गया है। रहम करो।" वह कठोर होकर बोला—"मुझसे एक पैसा भी नहीं हो सकता। तुम बेईमान हो। निकलो मेरे घर से—पाजी कहीं का!"

सुनो, कविजी! इस कहानी से तुम्हारा मनोरंजन नहीं होता होगा। तुम्हें तो पंचदशी कामिनियों के हाव-भाव की कहानियाँ प्रिय हैं, पर देश में सैकड़े निन्यानबे अभागों की यही जीवन-गाथा है। एक बार तो तेली की दुत्कार-फटकार से मेरा जी जल उठा, पर खून के घूँट पीकर चला आया। घर आकर देखा कि बच्चा दम तोड़ रहा है। दोनों सूखे हाथों से मा का गला पकड़-कर वह मृत्यु-यंत्रणा में छटपटा रहा है। आँखें पथरा गयी हैं और चेहरा पीला पड़ गया है। बहुत दिनों पर मैंने अपने इस बच्चे को आँखें भरकर देखा था। हाय, जीते-जी इसे मैं प्यार भी नहीं कर सका! हाय रे अभागा बाप!

× × ×

मैंने देखा कि नरमुण्ड की आँखों से आँसू की धारा बह रही है और वह धारा कुर्सी की गद्दी पर आग की चिनगारियाँ बन जाती हैं। देखते-देखते कुर्सी भभक उठी। सारा कमरा जलने लगा और आग की लपटों में वह नरमुण्ड गेंद की तरह उछल रहा है! मैं एक बार चिल्लाकर उठा और 'आग-आग' करता हुआ बाहर भागा। दूसरे कमरे में लल्ला की अम्मा सो रही थी। वह भी दौड़ी और घर के दूसरे लोग भी दौड़ पड़े। कमरे में भीड़ लग गयी ; पर कहीं आग का नामोनिशान भी न था। मेज पर कपाल रक्खा हुआ था और खस की टट्टी से छनकर सोंधी हवा भीतर आ रही थी। मैं पसीने से तर खड़ा काँप रहा था। बिगड़कर लल्ला की अम्मा बोली—"मैं कहती थी कि मुर्दे की खोपड़ी को घर में रखना अच्छा नहीं होगा। इसे अभी फेंकवा दो, वर्ना मैं अपने बच्चों के साथ मायके जाती हूँ। दैया रे, न जाने किस समय क्या हो जाय! इसे फेंकवाते हो या नहीं ?"

घर के दूसरे हितैषियों ने भी मुझे बनाना आरंभ किया। लाचार मैंने उस खोपड़ी को नदी की तेज धारा में प्रवाहित करके यज्ञोपवीत बदल और कमरे को धुलवाकर गंगाजल छिड़ककर शुद्ध करवा दिया। गेटे बनने की साध मिट गयी!

जीवन का भार

सुना है, शेषनाग ने पृथ्वी का भार अपने फनों पर लाद रखा है और शेषनाग हैं कच्छप पर। परन्तु, किसी शास्त्रकार ने यह नहीं लिखा कि महादेव गोंड ने किस खूबी से अपने जीवन का भार उठाया है। कोयले की खान में काम करते-करते महादेव ने दमा का वरदान पाया। रत्नगर्भा वसुन्धरा की छाती फाड़कर

किसी ने सोने का पहाड़ निकाला, तो किसी ने हीरों से अपना दामन भरा, किसी ने नाना प्रकार के खनिज द्रव्य पाकर अपनी गृहस्वामिनी के लिये सोने का मोटा-सा हार और अपने प्यारे कुत्तों के लिये बढ़िया मखमली गद्दा बनवाया; पर लगातार पन्द्रह साल तक रत्नगर्भा की छाती पर कुदाल चलाकर महादेव ने केवल अपना सारा शरीर काला किया, समय से पहले बुढ़ौती का मुँह देखा और अन्त में दमा का उपहार लेकर गाँव की ओर चल पड़ा। युधिष्ठिर का कुत्ता सदा कुत्ता ही बना रहा?

छः फीट लम्बा जवान महादेव धनुष की तरह झुक गया और एक-एक कदम पर दोनों हाथ कमर पर रखकर हाँफने और खाँसने के अतिरिक्त उसके लिये कोई चारा ही नहीं बचा। अपने जीवन के पन्द्रह रंग-विरंगे वर्षों को सैकड़ों गज मिट्टी के नीचे सौंपकर जब वह अकाल में ही बुढ़ाई, रोग, निराशा और गरीबी लेकर अपने गाँव में पहुँचा, तो सबसे पहले उसका स्वागत किया गाँव के आवारे कुत्तों ने, जो श्मशान में मुर्दे या खेतों में गलीज खाकर करीब-करीब पागल से हो उठे थे। काली सूरत, काले कपड़े और कमान की तरह झुका हुआ शरीर देखकर कुत्तों को बड़ी नाराजी हुई। महादेव मन-ही-मन हँसा। उसने सोचा कि सचमुच गाँव में इनके अतिरिक्त और धरा ही क्या है? गाँव के सच्चे प्रतिनिधियों की तरह कुत्तों ने जब महादेव का स्वागत कर लिया तो वह अपने घर की ओर चला, जो दूर से देखने में ही मूर्तिमान मनहूसियत-सा दिखलाई पड़ता था। उसके दो लड़के जेल में थे, और अन्धी-बूढ़ी स्त्री गाँव की गलियों में भीख माँगकर, ठोकरें खाकर, न जाने किस सुखद भविष्य की आशा में जी रही थी। महादेव ने एक बार अपनी टेंट को अच्छी तरह टटोल लिया। उसके पास कुछ सिक्के थे, जो छूने

में बहुत ही आनन्दवर्द्धक जान पड़े। रुपयों की कोमलता का अनुभव उन्हीं उँगलियों को होता है, जो सदा अपनी फूटी किस्मत ठोकने में ही लगी रहती हैं। महादेव के हृदय में कुछ आशा और आनन्द का संचार हुआ; पर ठीक उसी तरह, जैसे अकाल में घटा उठकर फिर महाशून्य में विलीन हो जाती है।

गाँव के उजाड़ खेतों के उस पार बैसाख की धूमिल संध्या उठती। आज एक मास के बाद महादेव के आँगन में दीपक का प्रकाश खेलने आया। अन्धी को प्रकाश से क्या वास्ता? गाँव के दो-चार खेतिहर-मजदूर संध्या समय महादेव से मिलने आये। हुक्का-तम्बाकू से उनका सत्कार किया गया और आधी रात तक झरिया की चर्चा चलती रही। महादेव ने उन्हें बतलाया कि बड़े साहब और उनके बच्चे महादेव को कितनी ऊँची नजरों से देखते थे तथा खान के दूसरे क्लर्क-किरानी तो उसका नाम सुनते ही तुरन्त अपना फैला हुआ विषैला फन झुकाकर प्रणत हो जाते थे।

देखते-देखते गाँव में यह बात फैल गयी कि झरिया से महादेव एक हजार नहीं तो पाँच सौ रुपये अवश्य कमाकर आया है। गंगू पाँड़े ने तो कसम खाकर कहा कि उन्होंने अपनी आँखों से उसे एक थैला रुपया मिट्टी खोदकर गाड़ते देखा है। अब प्रतिवाद का कोई उपाय शेष नहीं बचा। मँगरू ने कसम खाकर कहा कि महादेव के घर से उसने रातभर रुपये खनकने की आवाज सुनी है। जीवधारी भगत, जो महादेव का पड़ोसी था, उसने घोषणा की कि—उसने अपनी आँखों से महादेव को एक बड़े मटके में भरकर रुपये गाड़ते देखा है। पर, यह किसी ने भी समझने का कष्ट नहीं उठाया कि एक मटका रुपया अकेले महादेव कैसे उठाकर झरिया से अपने गाँव तक

चला आया। ऐसी छोटी-मोटी बातों पर दिमाग खपाने की फुर्सत ही किसे थी ? यह मशहूर हो गया कि महादेव कम-से-कम तीन-चार हजार रुपये से कम कमाकर नहीं लौटा है।

गाँव में महादेव के भाग्य से जलनेवालों की कमी न थी। यह सब हुआ तो, पर बेचारा महादेव अपनी गाँठ के मुट्ठी भर रुपयों को छाती से चिपकाकर अपने अन्धकारपूर्ण भविष्य की ओर कोटरगत धुँधली आँखों से रात-दिन देखने लगा। उसके दो लाल जेल में पड़े तड़प रहे थे !

—२—

गुड़ की महक चिउँटे की नाक को जितना मुग्ध कर लेती है, उतना गुलाब के फूल की महक नहीं। एक दिन गाँव के गुमाश्ता भी अपनी बेहद बढ़ी हुई दुमंजिली तोंद को खुजलाते हुए धीरे-धीरे महादेव के द्वार के सामने पहुँचे—मानो यों ही चलते-फिरते किसी ओर से आ निकले हों। महादेव अपनी नयी खाट पर बैठ एकाग्रचित्त से तम्बाकू पी रहा था। वह गुमाश्ताजी को देखकर अदब से उठा। सलाम-बन्दगी के बाद गुमाश्ताजी ने पूछा—"कब आये महादेव ?"

महादेव ने कोने में हुक्का रखते हुए जवाब दिया—"सरकार, पन्द्रह दिन हो गये। जब से आया हूँ, बीमार रहता हूँ। दमे से परेशान हूँ।"

"तो क्या फिर झरिया जाना चाहते हो ?" गुमाश्ताजी इधर-उधर गौर से देखकर बोले।

महादेव बोला—"सरकार, अब झरिया में क्या रक्खा है। जिस साहब के यहाँ मैं था, वे विलायत चले गये। नया साहब बड़ा शराबी है। बात-बात पर ठोकर मार देता है। इज्जत के लिये नौकरी की जाती है। अब बुढ़ौती में क्रिस्तान के

हाथों से इज्जत उतरवाऊँ ? बस, सरकार की सेवा में अब...।"

"तुम्हें किस चीज की कमी है महादेव ?"—गुमाश्ताजी ने बड़े इतमीनान से कहा।

महादेव बोला—"कमी क्यों नहीं है सरकार ! दो लाल थे, जो कैद में पड़े हैं, अन्धी बुढ़िया है और एक अभागा मैं हूँ, जो मौत की राह देख रहा हूँ।"

"इतना कमाकर लाये सो ?"—गुमाश्ताजी बोले—"एक-दो दुधार गाय खरीद लो। नित्य गौमाता के दर्शन भी होंगे और दूध-दही की कमी भी कभी नहीं रहेगी। खाने-पीने से टूटा हुआ शरीर जुट जायगा। हाँ महादेव, कितने दिन की सजा हुई है, बेटों को ?"

महादेव ने दुःखपूर्ण स्वर में उत्तर दिया—"सरकार ने ही उन्हें जेल भिजवाया है—क्या आपको नहीं मालूम है ?"

"मैंने ?"—चौंककर गुमाश्ताजी बोले—"साले अपनी करनी से जेल गये कि मैंने भेजवाया ? खलिहान में आग लगाकर मालिक को कितना नुकसान पहुँचाया था ? आग लगाना बड़ा पाप है...।" इतने में झगरू पाँड़े भी आ गये। गुमाश्ताजी की आखिरी बात सुनते ही आप बोले—"शास्त्र में लिखा है महापाप ! महापापी अन्धा हो जाता है या कोढ़ी—नरक तो बीस करोड़ साल तक भोगता है। शास्त्र में लिखा है—रामायण में भी है—"रौरव नरक कल्प शत परई।"

"महादेव बोला—हाँ बाबा, मेरे बच्चे ऐसे पापी हैं कि अन्धे-कोढ़ी होकर बीस करोड़ वर्ष नरक में सड़ेंगे और तुम्हारे बच्चे जो गोंड़-चमारों के साथ ताड़ी पीते हैं, उनका क्या होगा ? क्या किसी शास्त्र में यह भी लिखा है ?"

झगरू पाँड़े ने गरम होकर कहा—"गुमाश्ताजी, सुन रहे हैं

इस साले की बात ? सुनकर तो देह में आग लग जाती है, अगर सरकारी राज न रहता तो...।"

महादेव बोला—"तुम क्या करते ? क्या हमारा सिर काट लेते ? तुम खुद पापी हो ; कहते हो कि ब्राह्मण हैं, तपस्वी हैं ; पर कर्म-धर्म का ज्ञान नहीं है । तुमसे तो हम अच्छे हैं, जो अपना धर्म निबाहते हैं। दिन भर झूठ......।"

झगरू—"सुन रहे हैं न गुमाश्ताजी, इस साले की बात ?" झगरू गरज उठे। महादेव स्थिर खड़ा रहा । वह अविचल भाव से एकटक झगरू के तमतमाये हुए मुख की ओर देखता हुआ बोला—"देवता, हम तो नीच जाति के हैं, तुम्हारी गाली को आशीर्वाद समझते हैं—जितना जी जाहे, बको ।"

दो-चार किसान जुट गये। किसी ने झगरू की तरफदारी की तो किसी ने महादेव का समर्थन किया । बात बढ़ती देखकर गुमाश्ताजी ने कहा—"यह व्यर्थ की बकवास है । चलो झगरू बाबा, नाहक तुमने शास्त्र-पुराण का वितंडावाद शुरू कर दिया। अच्छा महादेव, कल कचहरी पर आना—कुछ काम है।

भीड़ तितर-बितर हो गयी। झगरू क्रोधभरी फुफकार छोड़-कर चल पड़े । मन-ही-मन महादेव के सत्यानाश हो जाने की कल्पना करके उन्होंने अपने मानसिक क्षोभ को शान्त किया। पर हृदय से जो ज्वाला उठकर उनकी बुद्धि को झुलसा चुकी थी, वह बढ़ती हुई उनकी मनुष्यता को भी जलाकर खाक करने लगी।

महादेव लम्बी साँस छोड़कर खाट पर बैठ गया। चिलम ठंढी हो गयी थी। फूँक मारकर उसने खाक उड़ायी और घर के भीतर तम्बाकू भरने के विचार से घुसा !

सन्ध्या हो गयी थी ; धीरे-धीरे तमाम अँधेरा फैल गया।

—३—

जेठ का धू-धू करता हुआ महीना आया !

गाँव का कुआँ सूख गया। ताल-तलैया का जल उड़ गया, भाप बनकर। कीचड़ में दरारें पड़ गयी और सिवार सूखकर धूल बन गया। वृक्षों के कोमल पत्ते झुलसने लगे। चारों ओर ज्वाला का तांडव नृत्य होने लगा। धूलि के बवंडर से नील-गगन की लुनाई छिप गयी। गाँव के खेत रेगिस्तान से नजर आने लगे।

महादेव की झोपड़ी का फूस उड़ने लगा। मिट्टी की कच्ची, टेढ़ी-मेढ़ी दीवारों का भार हल्का हो गया। दिन को घर के भीतर से चमकता हुआ आकाश नजर आता और रात को अनगिनत तारे झाँकते हुए दिखलाई पड़ते। महादेव सोचता, किसके लिये घर की मरम्मत करें। जब बच्चे जेल में पड़े हैं, तो छप्पर छाकर क्या किया जायगा ? हम बूढ़ी-बूढ़े को और कितने दिन रहने हैं ! उसका हृदय रह-रहकर कराह उठता। महादेव की स्त्री कहती—"कहीं से फूस-बाँस एकत्रित करके घर को ठीक क्यों नहीं कर देते ? मैं तो देखती नहीं, पर अन्दाज से पता चलता है कि छप्पर पर एक मुट्ठी फूस भी नहीं है ; दिनभर लू से जलती हूँ।"

महादेव कहता—"सब हो जायगा। हाँ, कल तक इन्तजाम कर दूँगा।"

वृद्धा जवाब देती—"तुम्हारा कल कितने महीने का होता है ? बरसात में भींगना पड़ेगा ; गर्मी के दिन तो अब बीत रहे हैं।"

कभी-कभी महादेव का मन पिघलता, पर तुरंत वह उदासीन हो उठता और सोचता—बच्चे होते तो छप्पर छान ठीक कर डालते ; पर मजदूर रखकर काम करवाना पड़ेगा। इतने पैसे कहाँ से पावें ? अपना शरीर इस योग्य नहीं है कि दिनभर धूप

में रहकर काम करें। वह उधेड़बुन में लगा रहता और किसी निश्चय पर नहीं पहुँच पाता।

एक रात को अचानक महादेव का दमा उभर आया। वह व्याकुल-सा खाट पर छटपटाने लगा। आधी से अधिक रात हो गयी। आँखों में नींद का नाम नहीं। धौंकनी की तरह साँस फूल रही थी। बोलने का ताव नहीं रह गया। वह कभी उठता और कभी बैठता। हवा का वेग आँधी की तरह उठ रहा था—खाँसी के मारे विराम न था। उसे ऐसा लगा कि उसके घर के पिछवाड़े में कोई चल-फिर रहा है; कुछ काना-फूसी भी सुन पड़ी।

चारों ओर सन्नाटा था। दूर-दूर से कुत्तों के भौंकने की आवाज रह-रहकर आती थी। सारा गाँव मानो मोह-निद्रा में अपनापन खोकर बेसुध पड़ा था—रात काली और गरम थी। हवा में गर्मी थी। धूलि के पर्दे के भीतर से दो-चार तारे उदास-से झाँक रहे थे। महादेव ने फिर खरखराहट का अनुभव किया। वह बोलने ही वाला था कि खाँसी के वेग ने गले को घेर लिया। साँस भी फूलने लगी। वह मन ही मन व्यग्र होकर इधर-उधर देखने लगा; पर कोई दिखलाई न पड़ा। दूर-दूर पर, पिशाच की तरह अन्धकार में डूबे हुए वृक्ष दिखलाई पड़ते थे। अचानक एकबारगी ही सारा घर बारूदखाने की तरह भभक उठा। गाँव में 'आग-आग' का शोर मच गया। सूखा हुआ फूस पल भर में ही लपटों से भर गया। महादेव खाट से उठा, पर गिर पड़ा। उसके सिर पर का छप्पर भी जल रहा था। वह पहले तो तल-मलाता-तलमलाता घर के बाहर निकला; पर भीतर से अन्धी का आर्त्तनाद सुनकर गिरता-पड़ता घर के भीतर घुस गया। जलता हुआ छप्पर घर के भीतर गिरा। बुझाने का प्रयत्न करने-वाले—पानी-पानी चिल्लाते हुए इधर-उधर दौड़ने लगे; पर

पानी कहाँ ? घर में पीने के लिये जिसके यहाँ जो दो-चार घड़े पानी था, वह लाया गया, तब तक सारा घर आग की लपटों से घिर गया। किसी की हिम्मत नहीं हुई जो नजदीक भी फटके। देखते-देखते महादेव का छोटा-सा घर राख और अँगारों से भर गया, जला हुआ काला फूस इधर-उधर उड़ने लगा। महादेव का अंत हो गया। नरसमिधा पाकर अग्निदेव विदा हुए। गाँव के चौकीदार ने थाने में सूचना दे दी—वहीं से बैठे-बैठे थानेदार ने रिपोर्ट लिखकर छुट्टी पायी।

× × ×

झगरू पाँड़े के दोनों हाथ कुछ-कुछ जल गये थे—आग बुझाने के प्रयत्न में। उन्होंने गाँव की गलियों में घूम-घूमकर सहानुभूति अर्जन करना आरम्भ कर दिया और साथ ही यह भी घोषणा कर दी—"ब्रह्मदेव के कोप से महादेव की यह हालत हुई। 'पत्रा' में इस साल साफ लिखा हुआ है कि प्रत्येक गृहस्थ को ब्रह्मदेव की पूजा करनी चाहिए, नहीं तो अग्नि के कोप में पड़ना होगा। कलियुग में तीन ही देवता प्रत्यक्ष हैं—सूर्य, गऊ और ब्रह्मदेव !"

गर्मी के बाद वर्षा आयी। महादेव के घर की जली हुई काली दीवारों पर हरी-हरी घास हवा के झोकों में लहराने लगी और आँगन से एक बड़ा-सा रेंड़ का वृक्ष ऊपर सिर उठाकर बाहर की ओर झाँकने लगा।

महादेव प्रत्यक्ष से कहानी और कहानी के बाद विस्मृत बनकर शेष हो गया ! संसार का कारोबार चलता रहा। किसी ने उसका अभाव महसूस नहीं किया। राजनीति, समाजनीति, अर्थनीति—सबके चक्र चलते रहे। महादेव के जीवन का भार महादेव से उतरकर किस पर लदा, यह हम पता न लगा सके, पाठक क्षमा करेंगे।

गलतफहमी

"अब नहीं सहा जाता !"

"क्यों ?"

"क्या बतलाऊँ ! बस मुझे आज्ञा दें। मैं जाऊँ।"

"आखिर इस विराग का कारण ?"

"कह तो दिया, अब नहीं सहा जाता !"

"क्या कारण है, किसने तुम्हें सताया, तकलीफ दी ?"

"मेरे दुर्भाग्य ने, दुर्दिन ने। और किसने ?"

"गोल-मटोल बातें समझ नहीं पाता—साफ-साफ कहो।"

"कहना चाहती हूँ, पर कह नहीं पाती, शब्द नहीं मिलते।"

"अच्छा—सोचने दो, क्या कर्त्तव्य है।"

"सोचिये—जब तक जी चाहे सोचा कीजिये ; पर मुझे तो जाने की आज्ञा प्रदान कीजिये—हाय ! दुर्भाग्य ने यहाँ तक पीछा किया।"

कमरे में लैम्प की रोशनी फैल रही थी। दीवारें पुस्तकों से भरी थीं और टेबुल पर कागजों का ढेर लगा हुआ था। शान्त वातावरण में दो हृदय एक दूसरे के सामने धड़क रहे थे। मनोहर और दिवा—दिवा विषाद की मूर्ति नवयुवती दिवा—अर्थ-शून्य दृष्टि से लैंप की ओर अधमुँदी आँखों से देख रही थी और मनोहर—मनोहर कलम से किसी अखबार के किनारे पर अकारण कुछ लिख रहा था ; पर उसका मन कभी आकाश में दौड़ता और कभी पाताल में प्रवेश करता। दोनों चुप थे, दोनों अनमने-से थे, दोनों अपने-अपने मन में कुछ खोज रहे थे, दोनों चुपचाप बैठकर समय काट रहे थे, दोनों पर प्रकाश का आँचल फैला हुआ था, हवा बारी-बारी से दोनों को चूम जाती थी। दिवा की

ठंढी साँस ने सन्नाटे को थोड़ा-सा ठेल-ढकेलकर दूर किया—मनोहर ने कलम रखकर छिपी हुई नजरों से दिवा के उस चेहरे को देखा, जिसपर नाना प्रकार की भावनाओं की लहरों की छाया नाच रही थी। दिवा ने भी मनोहर की ओर देखा—चारों आँखें टकराकर नीचे झुक गयीं।

किसी पुस्तक का पृष्ठ उलटता हुआ मनोहर बोला—"दिवा, समझ में नहीं आता, तुम इतनी जल्दी ऊब क्यों गयी? कोई असुविधा तो नहीं है? मैं तो सदा तुम्हारे आराम का खयाल रखता हूँ।" दिवा ने धीमे स्वर में उत्तर दिया—"असुविधा? मैं देहात की रहनेवाली। कच्चा घर, कच्चा आँगन और यहाँ हैं सुख के सभी साधन। पर मनोहर बाबू, शरीर के सुख को लेकर ही कोई जीना पसन्द नहीं करता, मन का सुख भी तो चाहिये?"

दिवा अचानक चुप हो गयी। मनोहर ने तनिक-सा चौंककर देखा, दिवा सिर झुकाकर, अपनी दाहिनी हथेली को गोद में फैलाये देख रही है, उसकी पलकें कुछ-कुछ भींगी-सी जान पड़ती हैं, मानो उसके अनजानते उसकी आँखें रो रही हैं। कराहकर मनोहर ने कहा—"क्यों दिवा, तुम्हारे मन को आराम यहाँ भी नहीं मिलता? मैं तुम्हारे सुख के लिये—तुम्हीं बोलो—क्या करूँ?"

"यही कि"—दिवा बोली—"मुझे घर लौट जाने की आज्ञा दें।"

"अच्छा"—मनोहर ने कहा—"दो-चार दिन और सब्र करो। मैं अच्छी तरह सोच लूँ कि क्या करना चाहिए।"

मनोहर मन का भार लेकर थका-सा उठकर कमरे में टहलने लगा। दिवा स्वप्न की तरह चुपचाप चली गयी। लैम्प का तेल

चुकने लगा। प्रकाश अपनी विभा समेटकर अंधकार के आँचल से मुँह छिपाने के लिये व्यग्र-सा हो उठा। मनोहर चिन्ता की उत्ताल तरंगों में कभी ऊपर उठता और कभी पछाड़ खाकर गिरता ; पर गिरता अतल सागर वक्षःस्थल पर ही। वह मन-ही-मन थक-सा गया ; पर तरंगों को विराम कहाँ—एक मिटी, तो विद्रोही की तरह दूसरी ने सिर उठाया। देखते-देखते चुपचाप रात खिसकती हुई आगे बढ़ी। मनोहर दिमाग के चरखे पर विचारों का सूत निकालता हुआ कमरे के इस छोर से उस छोर तक लगातार टहलता रहा। समय किसी की प्रतीक्षा नहीं करता —वह स्वतन्त्र है।

एक लम्बी साँस छोड़कर उसने अपनी ओर देखा और फिर देखा आँखें मलकर सुदूर भविष्य की ओर ; उसे दिखलाई पड़ी मिटती हुई धुँधली चन्द्र-रेखा की तरह प्रकाश और अन्धकार की सन्धि के बीच में शान्त, गम्भीर, उदास दिवा की भोली-भाली मुख-श्री। मनोहर मन-ही-मन मुस्कुरा उठा।

—२—

"दिवा कौन थी ?"

इस प्रश्न का उत्तर मनोहर यदि देता तो वह केवल इतना ही कहकर चुप हो जाता कि—"मेरी नादानी।"

"मनोहर कौन था ?"

इस प्रश्न का उत्तर यदि दिवा देती, तो वह मुँह से कुछ न बोलकर छलकती हुई आँखों से एक बार महाशून्य की ओर देख लेती। बस, इतना ही। हम कहानी-लेखक हैं—हृदय की भाषा कवि समझते हैं, हमारे कान तो कवि की भाषा समझकर, सुनकर ही धन्य हो जाते हैं। हम कवि नहीं, कथाकार हैं—यह नोट कर लें।

× × ×

दिवा—अभागिनी दिवा एक ऐसी लता की तरह थी, जो हवा में अपने शत-शत कर फैलाकर व्याकुल भाव से आश्रय खोज रही हो। वनिता और लता के सामंजस्य में समझदारों ने जो बातें कही हैं, उनका खंडन करना हमारा उद्देश्य नहीं है ; पर दिवा के प्रति निष्ठुर होना भी हम नहीं चाहते।

नवयुवती दिवा देहात के आडम्बरहीन वातावरण में अपनी लुनाई के साथ आयी। जिस लुनाई का उसके लिये विधाता ने उदार भाव से निर्माण किया था, वह देखते-देखते विडम्बना के रूप में परिणत होने लगी। दिवा ने इस भयानक परिवर्तन को सहमकर देखा और वह मन-ही-मन चीख उठी ; पर दुर्भाग्य के निष्ठुर हाथ अपना काम करते ही गये। इसी का नाम है विश्व-प्रपंच। वह चाहती थी कि रोकर, पैरों पड़कर दुर्दैव को समझावे-बुझावे, उसे अपने मन की करने से रोके ; पर उसका—दिवा का—क्षीण कंठ-स्वर उसके अन्तर में ही गूँजकर समाप्त हो गया। समय की गति में पड़कर दिवा न जाने कैसे मनोहर की छाया में चुपके-से आकर खड़ी हो गयी। यदि किसी ने उसे देखा, तो वह थी मनोहर की स्त्री 'कला'। कला ने चौंककर दिवा की ओर देखा और ठंढी साँस खींचकर सिर झुका लिया ; पर अपनी जगह पर अच्छी तरह पैर जमाकर खड़ी हो गयी—महामहिमामयी रानी की तरह। अपने आपको उसने तड़पती हुई बिजली समझा, सावन-भादों की नदी समझा और समझा गंभीर घोष करती हुई आषाढ़ के प्रथम दिवस की—पहाड़ से टकरानेवाली—महाघटा। गरीब दिवा ने इस चुनौती को सहज स्नेह के रूप में ग्रहण किया—वह दानी नहीं, भिखारिन बनकर संसार में आयी थी। उसकी कजरारी पलकों पर करुणा का

भार था, अधिकार का मद नहीं। कला ने दिवा की विनम्रता को ऐसे नाग-पाश के रूप में देखा, जो धीरे-धीरे अपने शिकार को नीचे से ऊपर तक लपेटकर बे-काबू कर डालती है। उसकी सकरुण भावना को प्रदीप के उस घातक, पर चटकदार प्रकाश समझा, जिसपर रीझकर पतिंगे स्वयं जल मरते हैं। कला के हृदय के किसी अंधकारपूर्ण कोने से झाँककर ईर्ष्या ने दिवा को देखा और दिवा के हृदय के प्रकाशपूर्ण कोने से मुस्कराकर कृतज्ञता ने कला को देखा। मनोहर, दिवा और कला के बीच में छाया प्रकाश बनकर मानो बिखर गयी। दिवा से अपने हृदयधन की रक्षा करने का प्रण कला ने किया।

एक दिन भोजन करने के उपरांत कला ने मनोहर से कहा—"न जाने क्यों मेरा जी घबराता है?" मनोहर ने सहज स्वभाव से उत्तर दिया—"बहुत दिनों से घर में रहते-रहते जी का घबराना संभव है।" मनोहर के सरल उत्तर ने कला को चौंका दिया। क्या मनोहर कला को कहीं दूर जाने की सम्मति दे रहा है—शायद मायके! ऐसा क्यों? कला अपने पिछले जीवन के इतिहास के पृष्ठ तेजी से उलटने लगी। कई बार ऐसी घटनाएँ हो चुकी हैं कि कई-कई दिनों तक अनशन करने पर भी मनोहर ने कला को मायके जाने का हुक्म नहीं दिया। वही मनोहर—हाँ, वही मनोहर आज कला को इशारे से मायके जाने की राय दे रहा है। इस परिवर्तन के चक्र का कारण-रूप कौन है—निश्चय ही अभागी दिवा! कला का जी जल उठा। उसे ऐसा लगा कि सहसा उसने अपना गौरवमय आसन खो दिया है। वह न जाने कैसे—सिंहासन से उतरकर नीचे पापोश पर बैठ गयी। कला मन-ही-मन कुछ झल्लाकर बोली—"तो आज ही मुझे मायके क्यों नहीं भेज देते?" "तो आज ही"—शब्द पर

अनावश्यक जोर देकर कला ने अपने भीतर एक प्रकार की तृप्ति का अनुभव किया। ऐसी तृप्ति ठीक निशाने पर तीर मार देने के बाद प्राय: शिकारी के उछलते हुए हृदय को प्राप्त होती है। मनोहर इस अनावश्यक उत्तेजना का मर्म नहीं समझ सका। वह अकचकाय-सा कला की ओर देखने लगा। कला मेज पर सुपारी की तश्तरी रखकर चुपचाप कमरे से बाहर हो गयी। कला की यह हरकत मनोहर को नयी जान पड़ी। वह मन-ही-मन कुछ झल्ला उठा। सुपारी के स्पर्श किये बिना ही भारी मन लिये वह नीचे उतर आया, यह पहली बार ही उसने इस तरह की मानसिक उथल-पुथल का अनुभव किया था। चिर-विनता कला के भावों में इतनी गर्मी! अपने पिछले जीवन की कला-संबंधी प्रत्येक स्मृति की धूल झाड़-झाड़कर उसने अच्छी तरह देखा; पर उसे एक भी ऐसी बात नजर नहीं आयी, जिससे उसकी जीवन-सहचरी की मुखरता का या उसके मिजाज की तेजी का संदेह भी होता हो, पर हठात् उसने उस दिन—दिन के प्रकाश में—जो कुछ देखा, वह एक अभूतपूर्व सपना था!

दिवा संतानहीना थी। चिर-पिपासु मातृ हृदय को उसने उस दिन तृप्त किया, जिस दिन मनोहर की छोटी बच्ची ने अपनी नीली भोली-भाली आँखों से चकित होकर सबसे पहली बार दिवा को देखकर अपने पिता से तुतली भाषा में पूछा था—"कौन बाबूजी?" मनोहर इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं ढूँढ़ सका। वह क्या कहकर बच्ची को दिवा से परिचित कराये। चाची, दादी, अम्मा आदि एक भी नाम मनोहर को नहीं रुचा। दिवा ने जरा-सा लजाकर सिर झुका लिया। यौवन से भरे उसके गोरे-गोरे गालों पर क्षण भर के लिये लाली दौड़ आयी। बच्ची दिवा के चारों ओर घूमने लगी। वह मानो चाहती थी कि दिवा खुशामद

करके उसे गोद में बैठा ले, प्यार करे, चूमे। मनोहर कमरे से बाहर चला गया, तब बच्ची को लपककर दिवा ने गोद में उठा लिया—बच्ची ने विरोध किया, पर उसका विरोध निर्बल था, मानो विरोध करने की रस्म अदा की जा रही है। ऊपरी मन का विरोध स्वीकृति से भी अधिक आकर्षक होता है। कुछ दिनों में बच्ची दिवा की गोद पर अधिकार जमा बैठी। बिना बच्ची के दिवा का दिन सूना था और बिना दिवा के बच्ची का खेल उदास था। सन्तानहीना दिवा ने सहमते हुए बच्ची को प्यार किया। वह मन-ही-मन डर रही थी—उसे भय था कि जब विधाता ने उसे संतान-सुख से पूरी तरह वंचित कर दिया है, तब उनकी आज्ञा की अवहेलना करके अपने मन से भाग्य-निर्माण या सुख-अनुसंधान करने का परिणाम शायद अच्छा न हो। दिवा के चिर-हाहाकारपूर्ण हृदय में बच्ची एक कोमल मधुर रागिनी की तरह गूँजने लगी। दिवा अपने इस सुख के प्रति शंकित हो उठी। उसे भय था कि कहीं उसका यह सुख-स्वप्न विभावरी के समाप्त होते ही अचानक लुप्त न हो जाय। सदा के दरिद्र को यदि थोड़ी-सी सम्पत्ति मिल जाय, तो अपनी इस निधि के प्रति सशंक रहता हुआ वह एक अनिर्वचनीय पीड़ा का अनुभव करता है। बच्ची नित्य दिवा के पास जाती और अपने ऊधम से उसके उजड़े हुए मानस को गुलजार कर आती। कुछ दिनों तक यही क्रम चला, पर एक दिन कला ने दिवा के जले हुए कपाल में एक और मेख ठोक दी, जिसे उसने अत्यन्त मर्मान्तक पीड़ा के साथ सहन कर लिया। नित्य की तरह बच्ची खेलती हुई दिवा के डेरे में चली गयी। कला ने दाई भेजकर तत्काल खेलती हुई बच्ची को मँगवा लिया। रोती-चीखती हुई जब वह कला के पास लायी गयी, तब उसने उसके आँसुओं से भींगे हुए गाल पर

एक चाँटा मारकर कहा—"कलमुँही, फिर जो उस डायन के डेरे में गयी, तो उठाकर पटक दूँगी।" प्रपंचहीन बच्ची के कोमल हृदय ने इस मातृ-आज्ञा को कोई विशेष महत्व नहीं दिया। आँख बचाकर वह फिर अपनी दिवा अम्मा की गोद में खेलने चली गयी। दिवा ने बच्ची के गाल पर उँगलियों के निष्ठुर निशान को देखकर पूछा—"रानी बिटिया, किसने मारा?" बच्ची की आँखें फिर भर आयीं। उसने रोनी आवाज में मा की बातों को भोलेपन के साथ दुहरा दिया। दिवा का हृदय उमड़ आया। उसने बच्ची को धीरे-से, गोद से उतारकर कहा—"बिटिया रानी, अम्मा के पास चली जा, नहीं तो वे फिर मारेंगी।" हक्की-बक्की-सी बच्ची दिवा के मुँह की ओर देखने लगी जो आँचल से अपना मुँह छिपाकर दीवार के सहारे बैठी हुई थी। दिवा के हृदय को बच्ची की चोट से बड़ी पीड़ा पहुँची। वह नहीं चाहती थी कि उसके कारण उसकी प्यारी बिटिया रानी को कोई पीड़ा पहुँचावे, भले ही उसके निकट वह कभी न आवे। उस दिन दिवा ने तकिये में मुँह छिपाकर रोने के अतिरिक्त दूसरा कोई काम नहीं किया। असफल मानसिक क्षोभ पानी बनकर आँखों से जब निकल पड़ता है, तब हृदय का भार कुछ हल्का हो ही जाता है। धीरे-धीरे परिस्थिति उसके सामने स्पष्ट होने लगी; पर वह क्या कर सकती थी? जैसे एक मजबूत अदृश्य पंजा किसी को पकड़-कर धीरे-धीरे, पर दृढ़तापूर्वक खींचता हुआ किसी ऐसी खाई की ओर ले जा रहा हो, जिसमें साँप-बिच्छू कुलबुला रहे हों; पर उस अभागे में अपनी रक्षा करने का दम न हो तो उसकी जो मनोदशा होगी, वही हालत दिवा की थी। वह समझ रही थी कि उसके भाग्य का दूध धीरे-धीरे फटकर जम रहा है; पर एक मूक और निरुपाय दर्शक की तरह केवल आँखें पसारकर कुछ

देखने के अतिरिक्त बेचारी के पास कोई सहारा ही न था। मनोहर—वह मनोहर--जिसने दिवा के लिये अपनी सबसे कीमती निधि को एकबारगी ही दाँव पर रख दिया था, कुछ-कुछ थका-सा उपाय की खोज में व्यस्त रहनेवाले अनन्योपाय व्यक्ति की तरह एकमात्र दिवा की आशा का, आकांक्षा का केन्द्र-विन्दु था। उसने यह भी अनुभव किया कि उसका यह केन्द्र-विन्दु यद्यपि ध्रुवतारा की तरह अनवरत एक ही स्थान पर चमक रहा है, तथापि क्षितिज के एक छोर से काली-काली घटाएँ भी उठती आ रही हैं। दिवा का हृदय आसन्न अंधकार की कल्पना करके एक बार सिहर उठा।

—४—

कला का जीवन—उसकी समझ से, जो केवल भ्रममात्र था, काफी विरस हो गया। अपनी कल्पना की धींगा-धींगी से थककर कला ने अपने विषय में जो कुछ सोचा, वह उत्साहमय नहीं कहा जा सकता। मनोहर की तेज नजरों ने भी सब कुछ देखना आरम्भ किया। वह चाहता तो यह था कि ऐसी चीजों को वह देखकर भी न देखे, ऐसी बातों को सुनकर भी न सुने, जो उसकी मानसिक शान्ति की नींव को खोखली करने का कारणरूप हों; पर अनिवार्य रूप में जो कुछ सामने आ जाता है, उससे बचकर आगे निकल जाना असम्भव है। कला के भावों में तेजी से जिस प्रकार परिवर्तन हो रहा था, उसपर तीखी नजर डालकर एक बार तो मनोहर मन-ही-मन झल्ला उठा; पर दिवा ने अपनी मानसिक शीतलता की छाया डालकर उसे उभड़ने से बचाया। कला अपने विचारों के उस मार्ग पर लगातार चलती ही रही जो आगे चलकर विनाश के अन्धकार में समाप्त हो जाता था। उसे अपनी समझ पर हठ था।

मनोहर को एक दिन एकान्त में पाकर कला बोली—"मैं कह नहीं सकती—मैं ऊब उठी हूँ। मुझे कहीं दूर देश भेज दो, नहीं तो मैं नहीं बचूँगी।"

मनोहर ने कला की बातों की गहराई का तत्काल अन्दाज लगा लिया; पर जरा-सा चौंककर पूछा—"आखिर बात क्या है? मैं तो नहीं समझता कि यहाँ तुम्हें कोई तकलीफ है—इस विराग का कोई कारण भी है या मन की तरंग है।"

खिन्न स्वर में कला बोली—"संसार में मेरा अपना कोई नहीं है। भगवान की शरण में रहना चाहती हूँ—यही बात तुमसे कहना चाहती थी।"

मनोहर का हृदय विकल हो उठा। कला कितना नीचे उत्तर आयी है, यह देखकर उसे बड़ा कष्ट हुआ। क्या कला पति-सन्तान-हीना है, जो वह कहती है—संसार में मेरा अपना कोई नहीं है। यह कितने परिताप की बात है। मनोहर का दिल भी छोटा हो गया; पर उसने अपने भावों को जोर देकर छिपाया और कहा—"कला, संसार तुम्हारा है। सच पूछो तो मेरा अपना कोई नहीं है। सही बात तो यह है कि तुम्हारी बातों ने मुझे संसार से विरक्त कर दिया है—मोह का पाश अभी एकदम टूटा तो नहीं, पर कुछ ढीला अवश्य पड़ गया है।"

कला ने अपने मन की अनावश्यक निष्ठुरता को जरा-सा और उत्तेजित करके उत्तर दिया—"मेरा क्या है? घर-द्वार सभी तो तुम्हारे हैं। मैं कल भी पथ की भिखारिनी थी और आज भी हूँ।"

खिन्न-हृदय मनोहर 'तथास्तु' कहकर कमरे से बाहर हो आया। उसके हृदय में असफल क्षोभ चिता की तरह धू-धू करके जलने लगा। अब वह क्या करे? एक बार जी में आया कि

सदा के लिये इस वातावरण से अपने आपको बचा ले ; पर उसे चारों ओर अन्धकार-ही-अन्धकार नजर आया। कला, जो उसके जीवन की आनन्दमयी मुस्कुराहट थी, अनिवार्य पीड़ा-सी बनती जा रही थी, जिसे मनोहर बर्दाश्त नहीं कर सकता था। वह चाहता था कि कला अपने विचारों को बदले ; पर उसने जो रुख ग्रहण किया था, उसमें संशोधन करने को वह कतई तैयार न थी। मनोहर अपने और कला के बीच के फैले हुए अन्धकार को जितना मिटाना चाहता, वह उतना ही घनीभूत होता जाता — कला अपने प्रयत्नों से अन्धकार के रूप को अधिकाधिक डरावना बनाती जाती थी और दिवा !

दिवा धूल से भरी हुई एक ऐसी मूर्ति की तरह एक कोने में पड़ी हुई थी, जो कमरे की सजावट से अलग कर दी गयी हो। इतना होते हुए भी वह सब कुछ देखती और समझती ; पर केवल मनोहर की ओर अपने मन को केन्द्रित करके समय व्यतीत करना ही उसे मंजूर था। न जाने वह किस आशामय भविष्य की प्रतीक्षा में अपने उथल-पुथलमय वर्तमान की उत्तेजनात्मक घड़ियों से मन बहलाया करती थी। जब कभी बच्ची के लिए उसका रहस्यपूर्ण हृदय मचलने लगता था, जब मनोहर उससे पूछता कि 'कोई तकलीफ तो नहीं है ?' तब वह बहुत ही धीरे से, अपने मनोद्वेगों को दबाकर उत्तर देती—"मुझे मालूम नहीं है।" मनोहर इस उत्तर से अजब पशोपेश में पड़ जाता। क्या दिवा की असुविधाओं को जानना भी उसी के मन की बात है ? इस पूर्ण त्यागमय समर्पण की भी कोई हद है ? मनोहर के दायित्व का रूप इस प्रकार अधिकाधिक गंभीर होता जाता था। मनोहर दिवा की सुविधाओं के विषय में जितनी बातें सोचता, दिवा के लिए—दिवा की तरफ से—उतनी ही यथेष्ट समझी

जातीं। अपनी ओर से अपने आराम और कष्ट के विषय में सोचना भी दिवा ने छोड़ दिया है। जब यह पता मनोहर को लगा, तब वह एक बार सन्नाटे में आ गया और कला के द्वारा होनेवाले उत्पीड़नों ने तो उसे और भी थका दिया।

—५—

एक दिन बच्ची चुपके-चुपके दिवा के कमरे में घुसी। वह चुपचाप बैठी अपने अतीत का गठबंधन वर्तमान से कर रही थी। बच्ची के आने की आहट ने उसे चौंका दिया। वह इधर-उधर झाँकने लगी कि कहीं कोई उस भोली-भाली बच्ची का इधर आना न देख ले। बच्ची चुपचाप दिवा की गोद में जाकर बैठ गयी। बहुत दिनों से दिवा ने इतनी प्रिय वस्तु का स्पर्श नहीं किया था। उसने धीरे-धीरे बच्ची को चूम लिया। कुछ देर ठहर-कर बच्ची बोली—"दिवा चाची, अम्मी तुम्हें बुलाती हैं। चलो न।" इधर कई महीनों से दिवा कला के पास नहीं गयी थी। मनोहर ने मना कर दिया था। अचानक अपनी बुलाहट का संवाद सुनकर दिवा असमंजस में पड़ गयी। कुछ क्षण सोच-विचार कर वह बच्ची को गोद में उठाकर कला के पास पहुँची। कला चुपचाप बैठी कुछ सोच रही थी। दिवा सिर झुकाकर एक ओर बैठ गयी—अपने धड़कते हुए हृदय को सँभालती हुई। बच्ची ने अपनी मा से सोत्साह कहा—"अम्मा, दिवा चाची को बुला लायी।" कला बोली—तुझे वहाँ जाने को कहा किसने ? मैंने तो रामचरन की मा को भेजा था। तू क्यों गयी ?" बच्ची का चेहरा पीला पड़ गया। सचमुच कला ने रामचरन की मा को, जो महाराजिन थी, दिवा को बुलाने के लिए कहा था। बच्ची वहीं पर खड़ी थी, सुनते ही दौड़ पड़ी। उसने यह नहीं सोचा कि माता की इच्छा का प्रतिपालन करना

इस समय एक अपराध हो जायगा। कला की रूखी आवाज ने बच्ची को दहला दिया। वह सकपकाकर दिवा की ओर देखने लगी। कला ने फिर खींचकर पूछा—"क्यों री, तू बड़ी शैतान हो गयी है!" चार साल की नन्हीं-सी मुनिया ने रुआसी होकर कहा—"नहीं जाऊँगी।"

"गयी क्यों," चिल्लाकर कला बोली। बच्ची काँपकर रो उठी। कला ने उसका कंधा पकड़कर जोर से झकझोरते हुए कहा—"बोल, गयी क्यों?" दिवा के लिये यह अपमानजनक दृश्य देखना कठिन हो गया। वह फिर भी पत्थर की मूर्ति-सी अचल रही। कला का क्षोभ बढ़ता गया। उसने तड़ातड़ दो-तीन तमाचे बच्ची के गाल पर जड़ दिये। वह विकल होकर चीख उठी। इसी समय मनोहर वहाँ आ गया। वह क्रोध में काँपता हुआ आकर चुपचाप खड़ा हो गया। बच्ची फर्श पर लोट रही थी। कुछ क्षण ठहरकर मनोहर बोला—"इसे क्यों मारा?" कला चुप! मनोहर ने फिर गुर्राकर अपना प्रश्न दोहराया, पर कोई उत्तर नहीं। अब मनोहर से न रहा गया। उसने दाँत पीसते हुए पूछा—"आखिर तुम्हारी इच्छा क्या है? मैं देख रहा हूँ कि तुम अपना नाश उपस्थित करने के लिये उतारू हो चुकी हो। मैं समझाते-समझाते थक गया। जी चाहता है कि···।"

कला उठकर कमरे में चली गयी और बच्ची को गोद में उठाकर दिवा चुमकारने लगी; पर धीमे स्वर में। इस तरह दुखान्त नाटक का एक दृश्य बुरी तरह समाप्त हुआ।

मनोहर ने खूब सोच-समझकर जब अपनी ओर देखा, तब वह कुछ चिन्ताकुल-सा हो उठा। कला के रुख ने उसे झल्ला दिया था। वह जितनी ही कोशिश करता कि कला का दिल साफ हो, परिणाम उलटा होता। दिवा को लेकर कला ने जिस

अवांछनीय वातावरण की सृष्टि की थी, उसमें मनोहर का श्वासावरोध होने लगा; पर कहीं दूर हटकर आत्मरक्षा करना भी उसके लिये असम्भव था। जब कभी मनोहर दिवा से पूछता कि तुम्हें मेरे कारण बड़ा कष्ट उठाना पड़ रहा है तब वह अचंचल भाव से उत्तर देती—"मैं नहीं जानती।"

कला ने मनोहर का अध्ययन बहुत ही गलत तरीके से किया था; पर दिवा की तेज नजरों ने उसे ठीक रूप में देखा। मनोहर कला और दिवा के बीच में घड़ी के पेण्डुलम की तरह था, जो कभी इधर जाता और कभी उधर। ऐसी ही दशा थी उस नवयुवक की। कला ने दिवा को अपने सौभाग्य का एक घृणित हिस्सेदार मान लिया था और उसने मान लिया था कि दिवा इस घर में मालकिन का आसन ग्रहण करती जा रही है। उसकी उपस्थिति कला के लिये पीड़ा का कारण थी। परंतु न तो दिवा ने और न मनोहर ने ही इस तुच्छ विषय की ओर ध्यान दिया। दिवा मनोहर को अपने हृदय की समस्त श्रद्धा से पूजती और मनोहर अपने जीवन की सम्पूर्ण करुणा से दिवा के दग्ध हृदय को शीतल करने का प्रयत्न करता। दोनों के बीच में न तो प्रेम की गंध थी और न लगन की झलक; पर कला की आत्मा ने इस सत्य को रौंदकर जिस भावना को जन्म दिया था, वह नितान्त गर्हित थी। घर के नौकरों तक को कला ने इस तत्व से परिचित करा दिया था। एक दिन वृद्ध दरबान हरनन्दन पाँड़े जब किसी प्रयोजन से अन्तःपुर में गया, तब कला ने बड़े उत्साह से कहा—"बाबा! नयी मालकिन की सेवा करते हो या नहीं?"

चौंककर हरनन्दन पाँड़े ने पूछा—"बिटिया, एक तो तू घर की रानी है। दूसरी कौन है—मैं तो नहीं जानता!"

दरबान के मुख से अपनी महिमा की बात सुनकर कला को

कुछ आत्म-गौरव का भान हुआ। क्योंकि उसने मन-ही-मन यह मान लिया था कि अब वह कौड़ी के तीन हो चुकी है और समस्त महिमा दिवा के उज्ज्वल ललाट पर बिन्दी के रूप में चमक रही है। कला ने फिर पूछा—"नहीं बाबा, अब मैं रानी नहीं, चेरी रह गयी हूँ। तुम तो सब कुछ जानते हो, फिर जानकर अनजान क्यों बनते हो—मेरे भाग्य में आग लग गयी बाबा।"

वृद्ध दरबान ने कहा--"हरे ! हरे ! यह क्या बोलती हो सरकार ! तुम घर की रानी हो। हम सब तुम्हारे गुलाम हैं—मैंने तुम्हारी ददिया सास की सेवा की है। हाय, वे दिन कहाँ चले गये रानी बेटी ! अब तो जी चाहता है कि कहीं एकान्त में बैठकर राम-नाम...।"

भावोद्वेग से व्याकुल होकर हरनन्दन पाँड़े रो पड़ा। उसके झुर्रियों से भरे हुए गाल पर दो-चार आँसू टपक पड़े।

कला ने भी पुरखिन की तरह कराहकर कहा—"बाबा, अब सहा नहीं जाता। जी चाहता है कि कुछ खा-पीकर सो रहूँ; पर इस अभागी बच्ची का मुँह देखकर जीना पड़ रहा है।"

पास में खड़ी हक्की-बक्की बच्ची को अपनी ओर खींचकर कला भी रो पड़ी। हरनन्दन पाँड़े बोला—"नहीं रानी बिटिया, तुम कोई चिन्ता मत करो। मालिक को गोद में खेलाकर मैंने इतना बड़ा किया है। वे सब समझते हैं। उनसे अन्याय नहीं हो सकता। यह तुमसे किसने कहा ? छिः छिः ! ऐसी बातें तुम मन से निकाल दो।"

कला मन-ही-मन झल्ला उठी और वृद्ध को दो-चार गालियाँ मूक भाषा में देकर बोली—"तुम भोले-भाले हो बाबा ! जानकर भी अनजान बनते हो। मैं कल की बच्ची हूँ, जो मुझे मिठाई देकर फुसलाना चाहते हो।"

वृद्ध ने बात विगड़ती देखकर अपने आपको सँभाल लिया और चापलूसी के साथ कहा—"मैं जान दे दूँगा सरकार, मुझे किसी का डर-भय नहीं है। आप निश्चिन्त रहें। जब तक हरनन्दन इस घर में मौजूद है, एक भी अनर्थ नहीं हो सकता।"

यह कहते-कहते अपनी गत जवानी को याद कर हरनन्दन हाथ की छड़ी के सहारे तनिक-सा तनकर खड़ा हो गया और कोटरगत आँखों से कला के उदास और पीले मुख की ओर देखने लगा।

उत्साहित होकर सकरुण स्वर में कला ने दिवा की गाथा को एक साँस में दोहरा दिया, जिसे वृद्ध ने बड़े ध्यान से सुना और दीर्घ निश्वास त्यागकर कहा—"सरकार अब इस घर में नहीं रहूँगा। हाय, ऐसा जुल्म, ऐसी बेइज्जती! मैं मनोहर बाबू से साफ-साफ कह दूँगा—चाहे जान रहे या जाय।"

कला की नजरों में हरनन्दन पाँड़े का मूल्य बढ़ गया। दरबानों और दूसरे नौकरों में जो कानाफूसी चल रही थी, उसमें बाढ़-सी आ गयी। यहाँ तक कि मनोहर के निकट-संबंधियों तक ने दिवा के विषय में अवांछनीय बातें सोचनी आरंभ कीं। यह कला की ही नादानी थी।

—६—

धीरे-धीरे मनोहर ने यह अनुभव किया, मानो वह चारों ओर से घिर-सा गया है। उसकी चिर-शान्तप्रकृति में चिड़चिड़ापन आ गया। बात-बात में झल्ला उठना और झल्लाहट की स्थिति में हाथ में आये हुए काम को नष्ट कर देना उस अभागे नवयुवक के लिये मामूली-सी बात हो गयी। उसे लगा कि रात-दिन सभी उसी की चर्चा करते हैं, उसी की निन्दा करते हैं और उसी की सचाई और ईमानदारी के विरुद्ध सोचते हैं। मनोहर अपनी

सचाई, सच्चरित्रता और ईमानदारी को प्रमाणित करने के लिए विकल हो उठा। वह अस्वाभाविक रूप से अपने इन गुणों को प्रमाणित करने की भूल भी कभी-कभी कर बैठता। कला के लिए दिवा की ही एक चर्चा रह गयी थी। प्रत्येक व्यक्ति से वह एक ही बात कहती और वह यह कि "यदि बच्चों का मोह न होता तो वह निश्चय ही विष खाकर सो रहती।" दिवा की तरह-तरह की घृणित निन्दा अपने मन से गढ़कर करना कला को प्रिय था। इस तरह कला ने ऐसी स्थिति पैदा कर दी कि स्वयं दिवा के हृदय में अपने प्रति घृणा के भाव उत्पन्न हो गये। मनोहर भी अपने आप से घिना उठा।

दिवा ने मनोहर से पूछा—"आखिर मैं अब क्या करूँ?" मनोहर ने चौंककर कहा—"क्या कहा तुमने?" दिवा बोली—"मैं अब क्या करूँ, कहाँ जाऊँ, यही पूछती हूँ। मैं अच्छी तरह जानती हूँ कि सभी लोग मुझे घृणा की दृष्टि से देखते हैं। संसार प्रकाश में मुँह दिखलाना मेरे लिये असंभव हो गया है। संसार में जितने आश्रय-स्थल थे, सभी के द्वार मेरे लिये बन्द कर दिये गये हैं। या तो मैं ईश्वर के घर जाऊँ या आपके यहाँ···।

मनोहर सिहर उठा—एँ! यह कैसी बात, क्या दिवा—उफ्, कितनी बुरी बात है। ऐसा सोचना भी···।

दिवा ने मनोहर से फिर कहना आरम्भ किया—"मैं कहाँ जाऊँ? मुझे तो ऐसा लगता है कि संसार से ही नाता तोड़ लूँ···।" इतना कहते-कहते दिवा व्यग्र होकर रो पड़ी।

मनोहर विकल हो उठा। सारी परिस्थिति का उसे ज्ञान तो था, पर उसने जान-बूझकर अपने को भ्रम में रक्खा था। जान-कर भी अपने को भुलावे में रखने से मनोहर के हृदय को कुछ सुख मिलता था; पर सत्य अपना रूप छिपा नहीं सकता। एक

दिन वह वज्र-निनाद के साथ प्रकट ही हो गया। मनोहर के सामने एक बे-बूझ पहेली उपस्थित हो गयी। उसने धीरे से पूछा—"क्या विचार है दिवा ? मैं तो सोचता हूँ कि इतनी चिन्ता का कोई कारण नहीं है।"

"वाह, मनोहर बाबू ! मैं बच्ची नहीं हूँ"—दिवा ने खिन्न स्वर में कहा—"क्या मैं यह नहीं जानती कि मैं कितनी बदनाम की गयी हूँ। आपके यहाँ का प्रत्येक व्यक्ति मुझे ओछी नजरों से देखता है। मेरे सम्बन्ध में जो काना-फूसी होती रहती है, वह मैं सुन चुकी हूँ। अब संसार में मेरे लिये कहीं भी ठौर नहीं रहने दिया गया है। मैं दिल से कहती हूँ मनोहर बाबू, एक दिन आपके घर से ही मेरी लाश निकलेगी।"

क्रोध और मानसिक उत्तेजना से दिवा का चेहरा लाल हो उठा। वह सिर झुकाकर खड़ी हो गयी। मनोहर घबरा गया। उसने कहा—"दिवा, घबराने से काम न चलेगा। सत्य तो अन्त में विजयी होगा ही। मैं तो निश्चिन्त हूँ। कहने दो दुनिया को अपने मन की बातें। परमात्मा सब कुछ जानता है, देखता है, सुनता है।" दिवा को उपदेश देते हुए मनोहर ने अनुभव किया कि वह बहुत जोर लगाकर बोल रहा है और खुद भी सत्य से दूर हटता जा रहा है।

दिवा बोली—"हाँ, मनोहर बाबू, मैं जानती हूँ कि सत्य विजयी होगा ; पर संसार में केवल सत्य को लेकर ही चलना भूल है। मिथ्या की भी अपनी स्थिति है, जो सत्य है। यदि यही सत्य विजयी हुआ तो क्या होगा ? आप पुरुष हैं, सर्व-शक्तिमान हैं, निर्भय रह सकते हैं, संसार के मूक धिक्कारों की आँधी की उपेक्षा करके आगे बढ़ सकते हैं ; पर मैं हूँ स्त्री ! मेरी स्थिति बहुत ही तुनुक है, कागज की नाव-जैसी हूँ, प्रवाह के

थपेड़ों को सहना मेरे लिये असंभव है। मुझे यही चिन्ता है कि मैं अब क्या करूँ। माना कि अपने मुझे सत्य को सौंप दिया है, परमात्मा के भरोसे रहने दिया है; पर इस सत्य से, इस परमात्मा से मैं अपने को रक्षित नहीं पाती। मेरे खिलाफ जो एक घृणित वातावरण प्रस्तुत किया गया है, उसने मुझे समाप्त कर दिया। सोचते-सोचते मेरा दिमाग पक गया है, हृदय झुलस गया है। अब नहीं सहा जाता।"

दिवा आँचल से मुँह छिपाकर रो पड़ी और मनोहर गंभीर चिन्ता की आँधी में सूखे हुए पत्तों की तरह उड़ने लगा। दिवा चुपचाप कमरे से बाहर हो गयी। मनोहर हारा हुआ-सा फर्श पर बैठ गया। वह मन-ही-मन अपने आप पर अत्यंत झल्ला उठा कला की करनी ने मनोहर के जीवन को कंटकाकीर्ण बना डाला था, वह अनन्योपाय था। किस तरह कला को वह समझाता, कैसे उसे विश्वास दिलाता कि वह जिस आग को लगा रही है, वह सर्वस्वान्त करके ही शान्त होगी। कला हठी—मूढ़ हठी प्रकृति की स्त्री थी। जिस विषादपूर्ण स्थिति को उसने प्रयत्न करके उत्पन्न करने की भूल की थी, उसका अन्त कैसे होगा, यह समझाना मनोहर के लिये कठिन था। यह बात सही थी कि वह दिवा का त्याग करना नहीं चाहता था। साथ ही स्वयं मनोहर जिद्दी प्रकृति का भी था। उसे इस बात की जिद थी कि दबाव के सामने झुक जाना आत्म-हत्या से भी गर्हित बात है। यदि वह चारों ओर से दबाया न जाता, तो निश्चय ही दिवा के लिए कोई दूसरी व्यवस्था करता; पर जैसे-जैसे दिवा के खिलाफ जाल बुना जाने लगा, मनोहर का हठी हृदय सभी कुछ सुनने-सहने के लिए कठोरता ग्रहण करता गया। काना-फूसी की देवी के सामने बलि-प्रदान हो जाना उसे कतई स्वीकार न था। उसने कला को कई

बार समझाया, पर परिणाम उलटा हुआ। उसने अपना रवैया नहीं बदला। मनोहर का मन कला के खिलाफ धीरे-धीरे खट्टा होने लगा, यद्यपि वह उसकी पाणिगृहीता जीवन-सहचरी थी।

—७—

ऊबा हुआ-सा मनोहर बे-मन से कला के निकट जाता और तत्काल चला आता। कला जब मनोहर के निकट आती तब ऐसी बातें कहती, जिससे मनोहर के हृदय को आघात पहुँचता। यही कारण था कि वह अपनी जीवन-सहचरी के निकट जाता हुआ अपने को प्रफुल्लित नहीं पाता, बल्कि इसके विपरीत उदासी और अन्यमनस्कता का अनुभव करता। इतना होते हुए भी वह किसी आशा से बार-बार कला के निकट जाता और जिस तरह पटके जाने से गेंद फिर उछलकर लौट आती है, उसी तरह लौट आता। प्रत्येक बार मनोहर अपने हृदय को अधिकाधिक कातर बनाकर ही कला के निकट से लौटता।

दिवा भी निरन्तर उदास और मर्माहत-सी रहती। इस प्रकार मनोहर को किसी ओर भी शान्ति और हँसी नहीं मिलती। वह अभागा विचित्र परिस्थिति में जीवन के दिन समाप्त करता-करता जैसे थक गया; पर इस झुँझलाहटपूर्ण वातावरण से अपनी रक्षा करना उसके लिए असंभव हो गया। वह अपने लिए एक योजना बनाता और उसे नष्ट करता। कभी गृह-त्याग की बात सोचता, तो कभी इससे भी खराब कोई दूसरी बात। महीनों इसी स्थिति में रहते-रहते मनोहर का स्वभाव भी कुछ रूखा-सा हो गया। शंकालु प्रवृत्ति बढ़ जाने के कारण न तो दूसरों से सुखी रहता और न दूसरे उससे! परिणाम यह हुआ कि मनोहर ने अपने आपको अकेला और किसी अज्ञात षड्यंत्र से घिरा हुआ पाया। इस तरह का जीवन भी जीवन होता है।

यद्यपि दिवा के प्रति मनोहर का कोई रागात्मक आकर्षण न था तथापि उसके प्रतिकूल होनेवाली काना-फूसी ने उसे दिवा के निकट पहुँचा दिया। दिवा से दूर हटने का तो अब कोई प्रश्न ही नहीं रह गया था। हाँ, यह बात जरूर रह गयी थी कि दिवा का चिर-सान्निध्य मनोहर के लिये कैसे सम्भव हो, इसी पर वह गौर करता।

दिवा ने मनोहर से कहा—"आखिर मेरे भाग्य का क्या फैसला हुआ ?"

मनोहर ने धीरे से उत्तर दिया—"मेरे भाग्य के साथ ही तुम्हारे भाग्य का फैसला हो जायगा।"

दिवा बोली—"मनोहर बाबू, आप बहुत बड़ी बात कह रहे हैं।"

"सोच-समझकर ही कह रहा हूँ दिवा"—मनोहर ने जरा-सा सहमकर उत्तर दिया, मानो वह एक बड़े ही भयानक कर्म का श्रीगणेश करने जा रहा हो।

दिवा मन-ही-मन मुस्कुरा उठी ; पर अपने भावों को बल-पूर्वक दबाकर बोली—"यह कैसे संभव हो सकता है, भला बतलाइये तो।"

"यह बतलाने की बात नहीं है"—मनोहर बहुत ही गंभीरता से बोला—"दिवा, मैं हृदय से कहता हूँ—क्या कहूँ ?" मनोहर एकाएक चुप हो गया। दिवा अपने धड़कते हुए हृदय को थामकर सुनने के लिये प्रस्तुत हो गयी। यह उसके संभव का निपटारा था।

मनोहर ने फिर कहा—"सुनो दिवा, मैं नहीं चाहता था कि तुम्हारे भविष्य को अपनी जेब में रखकर आराम से गृहकर्म में मन लगाऊँ, पर अपने मन का काम ही कहाँ है ? तुम जानती

हो—मैं भी जानता हूँ—हमारे साथ अन्याय किया गया है। खैर, देखा जायगा। बात तो बहुत बुरी है, पर इस बुरी बात से बचकर निकल जाना तो और भी बुरी बात होगी। मेरे सामने दो बुरी बातें हैं, जिनमें से एक को चुन लेने के लिये मैं बाध्य किया गया हूँ। मैं तो चाहता था कि एक भी बुरी बात का सामना न करना पड़ता; पर देखता हूँ कि मेरा खातमा उसी व्यक्ति के हाथों से हो रहा है जो इस संसार में मेरा सबसे प्यारा कहा जा सकता है। यही है विधि-विडंबना!

दिवा सिर झुकाकर चुपचाप खड़ी रही, मनोहर एक ठंढी साँस खींचकर कुर्सी पर बैठ गया।

कला के रूखे व्यवहारों ने मनोहर के हृदय को उसकी ओर से हटाना आरम्भ कर दिया था। मानव-हृदय को कहीं-न-कहीं विश्राम-स्थल तो चाहिए ही। दिवा के कोमल व्यवहारों ने, शान्त गम्भीर स्वभाव ने, और सबसे अधिक उसकी सहनशीलता ने मनोहर को अपनी ओर आकर्षित करना आरंभ किया था। इस आकर्षण का अनुभव उसी तरह मनोहर ने नहीं किया, जिस तरह हम पृथ्वी के आकर्षण का अनुभव नहीं करते या हवा के दबाव का अनुभव नहीं करते। सूर्य से अलग होकर घूमती हुई पृथ्वी अब लाखों मीलों की दूरी पर आ गयी है और मनोहर के हृदय से विलग होकर कला कितनी दूर चली गयी, इसका कोई हिसाब अपने पास नहीं है। मनोहर और कला के बीच में जहाँ पहले स्नेह और श्रद्धा की बयार डोला करती थी, वहाँ अब झुँझलाहट की उमस भर गयी थी। न केवल मनोहर ही कला से ऊब उठा था, बल्कि कला भी मनोहर से ऊब उठी थी। कला यदि कभी हँसी की बात भी कहती, तो मनोहर झल्ला उठता; उसे तुरंत संदेह हो जाता कि दिवा को लक्ष्य करके आवाजकशी की जा

रही है। मनोहर के लिये यह बात कड़वी घूँट थी। यही हाल कला का भी था। गलतफहमी मुँह फैला रही थी।

हँसी-हँसी में एक दिन कला बोली—"संसार भर का भार उठाकर तुम शेषनाग-से हो गये हो।"

मनोहर ने इस सीधी-सी बात को व्यंग्य समझा। दिवा का भार मनोहर के कन्धों पर था। तत्काल उसने कला की इस साफ बात को बुरे भावों से ग्रहण किया और रूखी हँसी हँसकर वह चलता बना। कला कुछ घबराई-सी ताकती रह गयी। जब कभी कला भी मनोहर की सीधी-सी बात को लेकर बड़ा उधेड़-बुन करती। दोनों दोनों की इस मनोवृत्ति से परिचित हो गये थे और यह बात बहुत ही बुरी हुई कि दोनों से दोनों ने बोलना बहुत ही कम कर दिया। दोनों एक दूसरे से बोलते हुए झिझकने लगे। बोलते भी तो ऊबे-ऊबे-से। दिवा की मनोवृत्ति में भी घोर परिवर्तन उपस्थित होने लगा। उसने भी मन-ही-मन मुस्करा-कर मनोहर और कला के इन व्यवहारों और मनोवैज्ञानिक परि-वर्तनों से मनोरंजन करना आरम्भ किया। कभी वह अपने ऊपर झल्लाती और एक परिवार के अमृत की प्याली में विष की बूँद बनकर टपक पड़ने का जवाबदेह अपने आपको समझती; पर अब ऐसी भावना का उसके हृदय में कोई स्थान न था। दिवा पत्थर की ठोस चट्टान काटकर अपने लिये स्थान बनाने लगी—उसने धैर्यपूर्वक, पर लगन से अपने इस काम को शुरू किया, जिसका पता न तो कला को चला और न मनोहर को। दुर्भाग्य जब आता है तब उसके पैरों से आवाज थोड़े ही निकलती है—वह छाया की तरह चुपचाप न जाने भविष्य के किस मनहूस कोने से प्रकट हो जाता है। मनोहर ने कल्पना के प्रकाश से दूर-दूर की सभी छोटी-बड़ी वस्तुओं को तो देख लिया, समझ लिया,

पर ठेठ उसके पैरों के पास, जो एक आहत हृदय पड़ा दम तोड़ रहा था, उसे उसने नहीं देखा।

—८—

मनोहर ने अपनी जीवन-नैया को जब लक्ष्य के विरुद्ध देखा, तब उसका हृदय उमड़ आया; पर प्रवाह के खिलाफ विद्रोह का झंडा उड़ाना उसकी क्षमता के परे की बात थी। कला ने अपनी झल्लाहट की प्रकृति के कारण मनोहर के मन को इतना अस्थिर कर दिया था कि उसका सहनशील हृदय रह-रहकर कराह उठता था। अनन्योपाय होकर उसने चुप रहने की आदत को मजबूत करने की ओर ध्यान दिया; पर उसे पद-पद पर असफल होना पड़ा। एक दिन कला ने पूछा—"आजकल तुम उदास क्यों रहते हो?" मनोहर चुप! कला ने अपने प्रश्न को फिर दोहराया। मनोहर बोला—"बड़ी अच्छी हवा आ रही है। जी चाहता है कि···।" कला बोली—"सो जाना चाहते हो? मैं जानती हूँ कि मैं तुम्हें फूटी आँखों भी नहीं सुहाती। हाय! मुझे यह दिन···!" मनोहर चुपचाप खाट से उठा और धीरे-धीरे बैठकखाने में आकर बैठ गया। उसका मन आहत हो चुका था। बात टालने की नीयत से मनोहर ने हवा की चर्चा छेड़ दी थी; पर कला ने इस टाल-टूल का जो अर्थ लगाया, वह मनोहर के लिये एक भयानक प्रहार था। जब कभी वह कला को समझाता; पर हठी कला अपनी ही बात पर अड़ी रहती—उलटे बात का रुख गरम हो जाता और मनोहर को अपना मनस्ताप मिटाने के लिये या उत्तेजित हृदय को समझाने-बुझाने के लिये तत्काल अन्तःपुर का त्याग कर देना पड़ता। मनोहर अन्धकार-पथ का पथिक बन चुका है।

दिवा ने मनोहर से कहा—"मैं क्या करूँ? आपके

दर्शन नहीं होते, तो ऐसा लगता है कि कुछ खो गया है।"

मनोहर धीरे से बोला—"दिवा, सोच रहा हूँ, कल परिस्थिति ठीक हो जायगी ; पर वह 'कल' जिस दिन मैं मरूँगा, उसके एक दिन बादवाला कल होगा। हाय ! मैं क्या करूँ ? पता नहीं चलता। मेरी सारी आकांक्षाएँ, सारा सुख, सारा विनोद...!" मनोहर की आँखें भर आयीं। दिवा के लिये यह दृश्य हृदय-विदारक था। धीरे-धीरे वह समझने लग गयी कि वही इस सुखी कुटुम्ब के बीज में आपदा के रूप में आयी है। पहले तो वह ऐसी बात सोचते ही आत्मग्लानि से अधमरी हो जाती, पर परिस्थिति ने उसके हृदय को भी पथरा दिया—कोमल भावों का क्रम-क्रम से लोप होने लगा और उसने एक निष्ठुर खिलाड़ी का-सा आनन्द अपने इस अवांछनीय हृदय में प्राप्त करना आरम्भ किया।

समय तो व्यतीत होता गया, पर अत्यन्त निरानन्द रूप में गर्मी, वर्षा, जाड़ा एक-एक करके सभी समाप्त होने लगे, पर मनोहर, कला और दिवा ने इन भिन्न-भिन्न रूप और गुणवाली ऋतुओं में कोई पार्थक्य नहीं देखा। अनादृत अतिथि की तरह एक के बाद दूसरा भी मौसिम आया और चुपचाप खिसक गया।

कुछ दिनों पर मनोहर कलकत्ता से लौटा और अपने साथ तेज बुखार अपने प्राणों की सौगात के रूप में लेकर। मित्रों ने डाक्टरी सहायता लेने के लिये आग्रह किया। पर मनोहर की वृत्ति अन्यमनस्कतापूर्ण हो गयी थी। वह हर घड़ी अपने प्रति उदासीन-सा रहता था। इस वृत्ति ने उसके बुखार की अवस्था में भी साथ नहीं छोड़ा। उसने न संयम किया और न दवा ही खायी। ज्वर ने उग्र रूप धारण किया। वह पछाड़ खाकर खाट पर गिरा। दिवा का हृदय अपने घर में उमड़-उमड़कर रह

जाता। वह चुपचाप खिड़की के पीछे खड़ी आने-जानेवालों के चिन्ताग्रस्त, सूखे चेहरे देखा करती और सुना करती बे-मन के उदास उनके पद-शब्द। उसके पास कोई उपाय नहीं था कि वह अपने प्रिय मनोहर को निकट से देखे। देखना तो दूर की बात रही, उस घर का कोई उसके निकट तक नहीं जाता जिससे कुछ संवाद भी मिलता। वह जब घबरा उठती तब तकिया में मुँह छिपाकर—फफक-फफककर—रोती और फिर आकर खिड़की के सामने खड़ी होकर शून्य दृष्टि से मनोहर के अन्तःपुर का द्वार देखा करती। एक-एक दिन करके एक मास समाप्त हो गया। स्पष्ट शब्दों में नौकरों ने दिवा का नाम लेना आरम्भ कर दिया। हरनन्दन पाँड़े विशेष उत्साह से इस रुचिकर वार्त्तालाप में भाग लेता और कहता—"ऐसी कुलच्छनी का सिर मूँड़कर घर से निकाल दे। जब से आयी है, लक्ष्मी बिदा हो गयी। अब तो हमें अन्धकार-ही-अन्धकार सूझता है। डेढ़ मास से मालिक खाट पर पड़े हैं।" दिवा बड़े जोर से अपने कानों में अँगुली डालकर खाट पर लेट जाती। एक दिन मनोहर के साले ने नौकरों के बीच में खड़े होकर गम्भीर स्वर में घोषणा की—"मैं सब जानता हूँ। अगर जीजाजी का बाल भी बाँका हुआ तो हरामजादी का···इत्यादि इत्यादि।"

दिवा के लिये अब धैर्य असंभव हो गया; पर वह जाय तो कहाँ? उसके भाग्य ने सर्वत्र खाई खोदकर उसके लिये जो थोड़ा-सा स्थान छोड़ दिया था, वह था मनोहर का अनुग्रह! आज उसका मनोहर भी चुपके-से बिदा ग्रहण करने की तैयारी कर रहा है। अब तो दिवा के लिये एक ही द्वार खुला था। वह था अशरण-शरण के दरबार का। पर वहाँ का रास्ता कठिन है, दुर्गम है, कठोर है। दिवा को जान पड़ा कि संसार में जितनी

आँखें हैं, सभी उसकी ओर तिरछी होकर देख रही हैं, जिनसे क्षोभ और घृणा टपकती है तथा संसार में जितनी तर्जनियाँ हैं, वे सभी उसकी ओर उठी हुई हैं। वह कभी अपनी ओर देखती और कभी मनोहर की ओर! यह समझना उसके लिये कठिन हो गया कि वह अपनी बात अधिक गहराई के साथ सोचे या मनोहर की। इधर अपमानजनक कानाफूसी से वह और भी व्यग्र हो उठी।

अभागी दिवा—दिवा जिसके मानों प्रकाश हैं, स्वयं अन्धकार में निमग्न हो गयी।

—६—

एक दिन—आधी रात को—दिवा ने सुना एक साथ ही कई स्त्रियाँ मनोहर के अन्त:पुर में रो रही हैं। बहुत-से लोग लालटेन लिये जल्दी-जल्दी आ-जा रहे हैं तथा चमड़े के बड़े-बड़े बेग लिये हुए ताबड़तोड़ कई डाक्टर भी आये और गये—एक-दो तो वहीं रह भी गये। दिवा के हाथ के तोते उड़ गये। वह चुपचाप मनोहर के अन्त:पुर में पहुँची। देखा, चारों ओर उदासी है। आँसू-भरी आँखों से नौकर एक दूसरे को देख रहे हैं। मनोहर के साले नारायण बाबू कुछ विशेष उत्साहित-से नजर आते हैं और स्वामी-भाव से सबको समझा रहे हैं—"खबरदार, शान्ति रक्खो। भैया की तबीयत अभी ठीक होती है। हाँ, रमदेवा साला, पानी नहीं लाया। अजी शिव प्रसाद बाबू, जरा बड़े साहब से पूछिये तो और बर्फ चाहिये? यहाँ के नौकर साले कितने शोख हैं। हाँ हाँ, इतने जोर से पैर पटककर—धीरे-धीरे चलो।" दिवा चुपचाप सीधे मनोहर के निकट चली गयी, तो एकदम दोनों हाथ पसारकर नारायण बाबू चिल्ला उठे—"इधर-इधर, कौन है? हाँ हाँ, अरे बहरी है क्या? सुनती भी नहीं।"

दिवा ने कोई उत्तर नहीं दिया। वह पत्थर की तरह अटल-सी मनोहर के पैताने के पास जाकर खड़ी हो गयी। हक्के-बक्के-से नारायण बाबू बैठे रह गये। मनोहर चुपचाप पड़ा था। आँखें अधमुँदी थीं, जोर-जोर से साँस चल रही थी, मुँह खुला हुआ था। दो डाक्टर सिर झुकाकर एकटक मनोहर के पीले चेहरे की ओर देख रहे थे। दिवा ने बड़े गौर से मनोहर के मुँह की ओर देखा, पर मुस्कराकर—वह मुस्कराहट ऐसी थी जिसे देखकर कोई भी सहृदय रो सकता है। इतने में कला कमरे के द्वार पर आयी और बोली—"तुम्हें यहाँ किसने बुलाया ? मेरा सुहाग लुट रहा है, यही देखने आयी हो ?" इतना कहकर वह चिल्लाकर बोली—"डायन, जब से तू हमारे घर में आयी ·· तेरा बुरा हो !"

दिवा चौंककर बोली—"बहन, मैं सचमुच डायन हूँ। जिस घर में जाती हूँ, वहीं का मंगल-प्रदीप बुझाती हूँ—अब क्षमा करो दीदी ! मैं खुद जा रही हूँ—कहा-सुना माफ करो।"

मनोहर ने एक बार कराहकर आँखें खोलीं और कुछ बोलने की चेष्टा भी की ; पर होंठ हिलकर रह गये। दिवा ने झुककर मनोहर के दोनों हिम-शीतल पैरों को छू लिया और धीरे-धीरे प्रस्थान किया। अपने कमरे में आकर वह रोशनी के सामने बैठकर कुछ लिखने लगी—इसी बीच में फिर मनोहर के अन्तःपुर से रोने की दहला देनेवाली आवाज आयी। रोदनध्वनि के बीच में नारायण बाबू की कर्कश आवाज गूँज रही थी। वे कह रहे थे—'हाँ हाँ, घबराने की बात नहीं है।" एक बार कलम रखकर दिवा ने कुछ सोचा और फिर जल्दी-जल्दी लिखने लगी।

× × ×

एक मास के बाद !

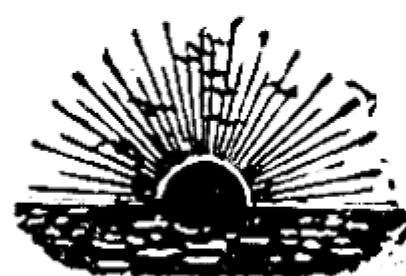
वर्षा की नदी पगली की तरह चीत्कार करती हुई बह रही

थीं। तरंगें कगारों पर सिर पटकती हुई, अपना अस्तित्व मिटाती हुई संसार की अनित्यता की घोषणा-सी कर रही थीं। आकाश में कलियाँ इठला रही थीं। वातावरण धुँधला-सा था। शीर्णकाय मनोहर श्मशान-भूमि में खड़ा था—कई बुझी और अधजली चिताएँ इधर-उधर बिखरी हुई थीं। हरनन्दन पाँड़े ने अच्छी तजवीज कर कहा—"सरकार, यहीं पर उनकी चिता बनी थी। मालिक, दवा, डाक्टर, सब हुआ, पर जहर असर कर गया था।

मनोहर धीरे से बोला—"हरनन्दन बाबा, बस इसी जगह मेरी चिता भी बनवाना। जगह को अच्छी तरह पहचान लो।"

हरनन्दन पाँड़े ने दाँतों से जीभ काटकर कहा—"हरे! हरे! सरकार ऐसी बात क्यों कहते हैं?"

ठंढी हवा के एक हलके झोंके के साथ जल के दो-चार छोटे कण शून्य से आये—मानो दिवा की अतृप्त आत्मा शून्य में रो उठी। कौन कह सकता है कि वह सुख से रोयी या दुख से!



हमारा कथा-साहित्य

उपन्यास

१. हृदय की ओर	दुर्गाशंकरप्रसाद सिंह २)
२. मजदूरों की छाती पर	कान्तिप्रसाद झा २)
३. संस्मरण	सर्वदानंद वर्मा १॥)
४. भाई-बहन	मोहनलाल महतो 'वियोगी' १॥)
५. जीवन-मरण	अनु० श्री ज्योतिप्रसाद मिश्र 'निर्मल' १॥)
६. सिंह सेनापति	राहुल सांकृत्यायन २)

कहानी

१. भूली हुई कहानियाँ	सरजू पंडा गौड़ १॥)
२. विभेद	राधाकृष्ण प्रसाद ।॥)
३. रजकण	मोहनलाल महतो ।॥)
४. अपर्णा	जानकीवल्लभ शास्त्री १)
५. दीपमालिका	भगवतीप्रसाद वाजपेयी १॥)
६. चित्रपट	शम्भूदयाल सक्सेना १॥)
७. गोधूलि	श्री नरेश २)

ग्रन्थमाला-कार्यालय, बाँकीपुर